आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम्

और

हिन्दी कृष्ण-काव्य

लेखक

डा० मलिक मोहम्मद

एम. ए., एल-एल. बी., पी-एच. डी.,

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम्

और

हिन्दी कृष्ण-काव्य

आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम्

और

हिन्दी कृष्ण-काव्य

लेखक

डा० मलिक मोहम्मद

एम. ए., एल-एल. बी., पी-एच. डी.,

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

भारत की राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता

के लिए सतत प्रयत्नशील

महापुरुषों

को

सादर समर्पित

"मुझे पुनः मांस-मज्जा नश्वर नर-जीवन धारण करने की कामना नहीं है। मुझे चाह नहीं कि असीम सुख-संपत्ति या अपार रमणियों के विलासोल्लासों से पूर्ण मादक स्वर्गीय आनन्द प्राप्त करूँ। मैं अपने को धन्य समझूँगा, अगर वेंकट पर्वत की निर्मल निर्झरिणी में एक मीन होने का भाग्य प्राप्त हो। प्रभु के पावन पद-कमलों के दर्शनार्थ गान रस-लहरी से निमज्जित भ्रमर-समूह के झंकार गुंजित वेंकटगिरि की वाटिका में एक चंपक कुसुम बन जाऊँ।"

—कुलशेखराळ्वार

"मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥

—रसखान

★

"जिस तरह जहाज का पक्षी फिर-फिर जहाज के खंभे पर ही आता है, उसी तरह हे, भगवान् मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे अन्यत्र कोई सहारा नहीं है।"

—कुलशेखराळ्वार

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै।"

सूरदास

★

"प्रिय वियोग में मेरी हड्डियाँ पिघल गयी हैं। मेरे भाले सम नेत्र कभी बन्द नहीं होते। प्रिय के अभाव में कैसे नींद आए? वियोग-दुःख सागर में गोविन्द नामक नाव के बिना मैं असीम कष्ट भोग रही हूँ।"

—आण्डाळ

"रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आँच डुलावै।
निस दिन जोवाँ बाट मुरारी, कदरी दरसण पावाँ।
मीरा रे हरि थे मिलियाँ बिन तरस तरस जीया जावाँ॥"

मीर

परिचय

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि डा० मलिक मोहम्मद का "१६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य पर आळवारों का प्रभाव" शीर्षक शोध-प्रबन्ध परिवर्धित और संशोधित रूप में प्रकाशित हो रहा है। डा० मलिक हिन्दी तथा तमिळ के गम्भीर विद्वान् हैं तथा संस्कृत आदि अन्य कई भाषाओं का इन्हें अच्छा ज्ञान है। प्रायः हिन्दी के शोध छात्र अपना अध्ययन हिन्दी साहित्य तक ही सीमित रखते हैं जिसके कारण उनके दृष्टिकोण तथा मूल्यांकन में वह व्यापकता नहीं आ पाती जो साहित्य की सार्वभौम सत्ता का प्रधान अंग है। हिन्दी साहित्य का अध्ययन तभी सर्वाङ्गीण हो सकता है जबकि सम्पूर्ण विश्व-साहित्य या कम से कम भारतीय भाषाओं के साहित्य के सन्दर्भ में उसका अनुशीलन तथा मूल्यांकन किया जाय। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य के सम्बन्ध में तो यह व्यापक दृष्टि अनिवार्य है। हिन्दी साहित्य में मध्ययुगीन भक्ति भावना को लेकर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु उनमें [illegible] इनमें सम्पूर्ण मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक तथा सन्तुलित [illegible] किया गया है। इसका एक कारण लेखकों का हिन्दीतर भाषाओं के ज्ञान का न होना भी हो सकता है। बात यह है कि हिन्दी के भक्ति साहित्य का अध्ययन [illegible] भाषाओं, विशेषकर दक्षिण की भाषाओं के भक्ति-साहित्य के अध्ययन के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

सम्पूर्ण मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत आळवारों का भक्ति-साहित्य ही रहा है। वास्तव में आळवारों का नालायिर-प्रबन्धम् ही भक्ति-आन्दोलन को दिशा देने वाला ग्रन्थ है जो 'तमिळ-वेद' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

डा० मलिक की मातृभाषा तमिळ है तथा इन्होंने उत्तर भारत में रहकर हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया है। डा० मलिक की तमिळ में अनेक साहित्यिक कृतियाँ हैं। दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होने के कारण डा० मलिक ने अपने विषय से पूरा न्याय किया है। लगभग चार वर्षों के अनवरत अध्ययन के उपरान्त डा० मलिक ने अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया। परीक्षकों ने प्रबन्ध की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है तथा हिन्दी साहित्य में उसे मौलिक देन बताया है। मैं स्वयं भी श्री मलिक [illegible] का निर्देशक [illegible] गौरव अनुभव करता हूँ

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के दो खंड हैं। प्रथम खंड में लेखक ने प्रबन्धम् का सामान्य परिचय देकर मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रबन्धम् के तत्वों का विवेचन किया है। द्वितीय खंड में प्रबन्धम् और १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन द्वारा अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। तमिल तथा हिन्दी के वैष्णव भक्ति साहित्यों का तुलनात्मक रूप से विस्तृत और गंभीर अध्ययन इस ग्रन्थ के रूप में ही पहली बार प्रस्तुत किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि भारतीय संस्कृति और साहित्य के विद्यार्थी इसे अत्यन्त उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक पायेंगे और इस ग्रन्थ से हिन्दी तथा तमिल साहित्यों के दूसरे पक्षों को लेकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए आगे के अन्वेषकों को निश्चित रूप से प्रेरणा मिलेगी।

डा० हरवंशलाल शर्मा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी स्नातकोत्तर विभाग,
अलीगढ़ विश्वविद्यालय

अलीगढ़
१२-७-१९६४

प्राक्कथन

भारत में भक्ति आन्दोलन का बहुत ही लम्बा इतिहास है। हिन्दी-प्रदेश में यह बहुत ही प्रसिद्ध उक्ति है कि 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द'। विद्वानों ने हिन्दी-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन पर तो विस्तार से लिखा है, पर दक्षिण में उत्पन्न होने वाली 'भक्ति' की मूल प्रेरणाओं पर अभी तक विशेष प्रकाश डाला नहीं गया है। भारतीय भक्ति-आन्दोलन में तमिळ-प्रदेश का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तमिळ-प्रदेश के आळवार भक्तों ने ईसा की पाँचवीं शती से आठवीं शती तक भक्ति का जो तीव्र आन्दोलन चलाया था, वह परवर्ती शताब्दियों में एक व्यापक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर समस्त भारतवर्ष में व्याप्त हो गया। यही कारण है कि आळवार रचित 'प्रबन्धम्' इसी 'द्राविड़ ऊपजी' वाले भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ माना जाता है। किन्तु खेद है कि 'प्रबन्धम्' के वास्तविक परिचय एवं महत्त्व के प्रकाश में न आने के कारण, भक्ति-आन्दोलन पर लिखने वाले विद्वान् तमिळ-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन तथा उसके प्रवर्तक आळवार भक्तों के विषय में अपेक्षित विवरण दे नहीं सके। अतः उन ग्रन्थों में भक्ति-आन्दोलन का अपूर्ण इतिहास ही उपलब्ध है। भारतीय भक्ति-आन्दोलन में आळवारों के योगदान के वास्तविक महत्त्व को प्रकाश में लाने की बड़ी आवश्यकता रह गयी थी।

जब से प्रस्तुत लेखक ने हिन्दी के कृष्ण-भक्ति साहित्य का विशेष अध्ययन किया था, तब से लेखक को आळवार भक्तों और हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों की विचार-धारा में दीख पड़ने वाले अद्भुत और गहरे साम्य ने दोनों के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी। श्रद्धेय गुरु डा० हरवंशलाल जी की स्फूर्तिमयी सत्प्रेरणा को पाकर आळवारों के भक्ति-साहित्य का विस्तृत परिचय हिन्दी जगत् को देने तथा आळवारों के और हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए लेखक प्रवृत्त हुआ। शोध के लिए अपेक्षित निश्चित सीमा को ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ में तुलनात्मक अध्ययन के लिए आळवार भक्तों के तथा केवल १६ वीं शती के प्रमुख हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य को ही लिया गया है। केवल १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य को लेने का दूसरा कारण यह है कि समस्त हिन्दी कृष्ण-भक्ति-साहित्य में "१६वीं शती का कृष्ण-भक्ति काव्य" ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

तुलनात्मक अध्ययन में साधारणतः समकालीन दो भिन्न भाषाओं के साहित्यों को लिया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में काल को लेकर नहीं, बल्कि विषय-साम्य से प्रेरित होकर आळवारों के और १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

भक्ति-आन्दोलन के मूल ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' ने भक्ति-परम्परा के परवर्ती भक्ति-साहित्य को बहुत ही प्रभावित किया था और यही प्रभाव १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य पर अप्रत्यक्ष रूप में (कई शताब्दियों के बीत जाने के कारण) परिलक्षित होता है। सामान्य रूप से परवर्ती भक्ति-साहित्य पर 'प्रबन्धम' की भक्ति-भावना का जो प्रभाव पड़ा है, वह अप्रत्यक्ष रूप से १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य पर भी पड़ा है। लेखक के मूल शोध-ग्रन्थ का शीर्षक **"१६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य पर आळवारों का प्रभाव"** ही रखा गया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषय को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम खण्ड आळवार-साहित्य से सम्बन्धित है। द्वितीय खण्ड में आळवारों तथा १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य का कई दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ को आठ अध्यायों में विभाजित कर दिया गया है और उनका विषय-क्रम निम्नलिखित प्रकार से रखा गया है।

प्रथम अध्याय में आळवारों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य की सामान्य पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। तमिळ-प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का परिचय देकर तमिळ-प्रदेश में वैष्णव-भक्ति के विकास पर प्रकाश डाला गया है। आळवारों के पूर्व तमिळ-साहित्य (संघ-साहित्य) में मिलने वाली वैष्णव भक्ति की एक झाँकी भी प्रस्तुत की गयी है। गोपालकृष्ण और राधा के विकास में तमिळ के योगदान की चर्चा की गयी है। आळवारों के समय की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का परिचय देकर भक्ति-आन्दोलन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। वैष्णव आळवार भक्तों ने तथा शैव-भक्त नायन्मारों ने मिलकर किस प्रकार जैन और बौद्ध धर्मों को परास्त कर तमिळ-प्रदेश में भक्ति की प्रबल धारा प्रवाहित की थी, इसका भी विवरण संक्षेप में दिया गया है। भक्ति-आन्दोलन को आळवारों की मौलिक देन पर प्रकाश डालकर यह साबित किया गया है कि उन पर इस्लामी विचार धारा का प्रभाव नहीं पड़ा है। आळवारों के पश्चात् उनकी विचार-धारा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने वाले आचार्यों तथा दक्षिण के प्रमुख भक्ति-सम्प्रदायों का परिचय भी दिया गया है। साथ ही साथ १६वीं शताब्दी के हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य को प्रभावित करने वाले उत्तर के सम्प्रदायों का भी परिचय दिया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में एक प्रकार से भक्ति के क्रमिक विकास का ही संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है।

"कवि और काव्य' शीर्षक द्वितीय अध्याय में आळ्वार भक्तों और १६वीं शताब्दी के प्रमुख हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के जीवन-वृत्तों का संक्षिप्त परिचय देकर उनकी कृतियाँ तथा वर्ण्य विषय के विवरण दिये गये हैं। आळ्वारों के आविर्भाव-काल इत्यादि के विषय में अनेक मत हैं। जो मत समीचीन और प्रमाण-पुष्ट है, उसी को स्वीकार किया गया है। आळ्वारों से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ तमिळ-प्रदेश में प्रचलित हैं। आळ्वारों के जीवन-वृत्तों का परिचय देते समय कुछ प्रसिद्ध जन-श्रुतियों का समावेश करना पड़ा है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए १६वीं शती के जिन प्रमुख हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों को लिया गया है, उनमें प्रत्येक सम्प्रदाय के दो-तीन प्रतिनिधि कवि हैं और कुछ सम्प्रदाय-मुक्त कवि भी हैं।

तृतीय अध्याय पूर्ण रूप से 'प्रबन्धम्' से सम्बन्धित है। इसमें मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के सामान्य और विशिष्ट तत्त्वों की चर्चा की गयी है। प्रसंगवश 'प्रबन्धम्' की तुलना श्रीमद्भागवत से करके यह दिखाया गया है कि 'प्रबन्धम्' का रचना-काल 'भागवत' से भी पूर्व का है। 'प्रबन्धम्' के सामान्य तत्त्वों के अन्तर्गत उन भक्ति-तत्त्वों की चर्चा है जिन्होंने सामान्य रूप से परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित किया है। विशिष्ट तत्त्वों के अन्तर्गत परवर्ती कृष्ण भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को लिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में आळ्वारों और १६वीं शताब्दी के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति-पद्धति का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भक्ति की विभिन्न परिभाषाओं तथा भक्ति के प्रकारों की चर्चा के साथ आळ्वार-काव्य तथा आलोच्य-हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य से नवधा भक्ति के उदाहरण दिये गये हैं। विभिन्न भक्ति-भावों की चर्चा कर दोनों क्षेत्रों के भक्तों की प्रेमा भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय में दोनों क्षेत्रों के कवियों के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्म, जीव, माया, जगत् और मोक्ष सम्बन्धी दोनों क्षेत्रों के कवियों के विचारों में मिलने वाले साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में आलोच्य कवियों के काव्य में उपलब्ध रहस्यात्मक दृष्टिकोण की भी चर्चा है।

षष्ठ अध्याय में दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य के भाव-पक्ष की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। भाव-पक्ष का सामान्य विवेचन कर आळ्वारों और आलोच्य-कालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य के भाव-पक्ष की आलोचना की गई है। विविध रसों के उदाहरण दोनों क्षेत्रों के काव्य से दिये गये हैं। वर्णन-वैचित्र्य के अन्तर्गत विशेष रूप से दोनों क्षेत्रों के कवियों की कृतियों में उपलब्ध प्रकृति-चित्रण के विविध रूपों की भी चर्चा की गयी है।

सप्तम अध्याय दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य के कला-पक्ष से सम्बन्धित है। कला-पक्ष के अन्तर्गत दोनों के काव्य में उपलब्ध गेयात्व काव्य के विविध रूप स्पष्ट-

योजना, भाषा, अलंकार-योजना और उक्ति-वैचित्र्य आदि विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला गया है। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि काव्य कला की कसौटी पर भी दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य खरे उतरते हैं।

"मूल्यांकन और उपसंहार" शीर्षक अन्तिम अध्याय में आळवार भक्तों के तथा १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य का कई दृष्टिकोणों से मूल्यांकन किया गया है। उपसंहार में प्रस्तुत ग्रन्थ के उद्देश्य और उसकी पूर्ति की चर्चा कर दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भारतवर्ष की भावात्मक एकता पर भी प्रकाश पड़ता है, इसका और भी संकेत किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में ४ **'परिशिष्ट'** भी जोड़ दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में आळवारों के कुछ चुने हुए गीतों का सम्पूर्ण हिन्दी भावानुवाद दिया गया है। इसमें दिये गये अधिकांश आळवार-गीत मूल प्रबन्ध में स्थान नहीं पा सके। द्वितीय परिशिष्ट में आळवारों की रामभक्ति की चर्चा है। आळवार-काव्य में उपलब्ध राम-भक्ति पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय परिशिष्ट में 'प्रबन्धम्' पर लिखित विविध भाष्यों और उनकी भाषा का विवरण दिया गया है। 'प्रबन्धम्' की विचार-धारा के प्रसार में इन भाष्यों का विशेष हाथ रहा। अतः इन भाष्यों का विवरण देना उचित समझा गया। चतुर्थ परिशिष्ट में सहायक ग्रन्थों की सूची है।

प्रस्तुत अध्ययन के मूल में मुख्य रूप से दो उद्देश्य रहे हैं। प्रथम उद्देश्य तो यह है कि भारतीय भक्ति-आन्दोलन में आळवार भक्तों के महत्वपूर्ण योगदान पर प्रकाश डालना तथा परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्वों का सामान्य विवेचन प्रस्तुत करना। दूसरा उद्देश्य यह रहा है कि आळवारों के भक्ति-काव्य की तुलना १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य से कई दृष्टिकोणों से करके दोनों के साम्य और वैषम्य को स्पष्ट किया जाय। परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्वों की विस्तृत चर्चा की गयी है। आळवारों के पश्चात् उनसे प्रभावित आचार्यों ने भक्ति-प्रचार किया और आळवारों के भक्ति-सम्बन्धी विचारों को न्यूनाधिक रूप में ग्रहण किया। 'प्रबन्धम्' पर अनेक टीकाएँ तमिल और संस्कृत में हुईं। 'प्रबन्धम्' से प्रभावित अनेक ग्रन्थ संस्कृत और तमिल में लिखे गये। इस प्रकार परवर्ती काल में 'प्रबन्धम्' की विचार-धारा का पर्याप्त प्रसार हुआ। 'प्रबन्धम्' के भक्ति-तत्वों ने अन्य भाषाओं के भक्ति-साहित्यों को प्रभावित किया। जहाँ तक १६ वीं शती के हिन्दी-कृष्ण-भक्त कवियों पर आळवारों के प्रभाव का प्रश्न है, लेखक का निवेदन है कि आळवारों का प्रभाव १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्तों पर परोक्ष परम्परा से आया है, क्योंकि दोनों के बीच शताब्दियों का अन्तर है। 'प्रबन्धम्' के जिन भक्ति-तत्वों ने परवर्ती भक्ति-साहित्य को सामान्य रूप से प्रभावित किया है, उन्हीं का प्रभाव १६वीं शती के हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-काव्य पर भी देखा जा सकता है। परन्तु यह प्रभाव कई शताब्दियों के बीच आने से अनेक माध्यमों से आया है।

१६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों तक 'प्रबन्धम्' के प्रभाव को पहुँचाने वाले निम्नलिखित माध्यम हो सकते हैं :—

१—'प्रबन्धम्' पर लिखित संस्कृत टीका-ग्रन्थ,
२—'प्रबन्धम्' से प्रभावित विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त-ग्रन्थ,
३—'प्रबन्धम्' से प्रभावित श्रीमद्भागवत का वर्तमान रूप, तथा
४—आचार्यों के सांप्रदायिक संगठन।

'प्रबन्धम्' के प्रभाव को उत्तर भारत में पहुँचाने वाले विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के आचार्यगण हैं, जिन्होंने दक्षिण की भक्ति-धारा को उत्तर में प्रवाहित किया। चूँकि १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने विशेष रूप से भक्ति-सम्प्रदायों के अन्तर्गत रहकर ही काव्य-रचना की है, अतः उन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक ही है। लेखक की विनीत मान्यता है कि १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर 'प्रबन्धम्' का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव मानना ही होगा। इतना अवश्य है कि यह प्रभाव अनेक माध्यमों से आया है। जो विद्वान् 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' को मानते हैं, उनको यह भी मानना पड़ेगा कि 'द्राविड़ में उपजने वाली भक्ति' का मूल स्रोत 'प्रबन्धम्' ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आळ्वार सम्बन्धी अध्ययन की सामग्री के संकलन में लेखक को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यह देखकर खेद-मिश्रित आश्चर्य होता है कि तमिळ विद्वानों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आळ्वार-साहित्य के प्रति क्यों उपेक्षा दिखायी है। जितना विस्तृत अध्ययन शैव-मतों के विषय में तमिळ में हुआ है, उतना आळ्वारों के साहित्य के विषय में नहीं। तमिळ में आळ्वार-साहित्य का कोई गम्भीर अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया है। आळ्वारों के विषय में जो छोटी-मोटी पुस्तकें मिलती हैं, उनमें आलोचनात्मक दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है। आळ्वारों के 'प्रबन्धम्' पर जो टीकाएँ तमिळ में लिखी हैं, उनकी भाषा साधारण तमिळ भाषी के लिए भी बोधगम्य नहीं है। सांप्रदायिक लोग आळ्वारों को अवतार समझ बैठे हैं और आळ्वार-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन करने वालों को निरुत्साहित कर देते हैं। ऐसी परिस्थितियों में ग्रन्थ के लेखक को आळ्वार-साहित्य के अध्ययन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। प्रस्तुत लेखक का अध्ययन मूल तमिळ 'प्रबन्धम्' पर ही आधारित है। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य पर तो विद्वानों ने अनेक उत्तम ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं। अतः लेखक को हिन्दी कृष्ण-काव्य सम्बन्धी सामग्री के संकलन में विशेष कठिनाई नहीं हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आळ्वार सम्बन्धी अध्ययन की सामग्री की प्राप्ति के लिए लेखक को तमिळ-प्रदेश के विभिन्न स्थानों की यात्रा करनी पड़ी है। आळ्वार भक्तों के जन्म-स्थानों के दर्शन तो लेखक ने किये ही हैं। उन स्थानों में आळ्वारों के जीवन-वृत्तों से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियों का पता चला है। लेखक ने मद्रास शहर के दो प्रमुख पुस्तकालयों (कन्निमारा पुस्तकालय और मद्रास विश्वविद्यालय का पुस्तकालय) से

आळवार-विषयक पर्याप्त सामग्री का संकलन किया है। हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के अध्ययन की सामग्री का संकलन विशेष रूप से अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय तथा आगरा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों से किया है।

लेखक को शोध-कार्य-काल में तमिळ के विद्वानों में सर्वश्री रा० की० वेंकिटन्, पी० श्री० आचार्य, एम० राधाकृष्ण पिल्लै, वेंकटेश्वर पिल्लै, अण्णंगराचार्य स्वामी, पुरुषोत्तम नायडु (मद्रास विश्वविद्यालय के तमिल विभाग के रीडर) तथा डा० सुब्रह्मण्यम (अध्यक्ष, तमिल-विभाग, केरल विश्वविद्यालय) से आळवार-साहित्य के अध्ययन में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ, जिनके लिए वह उनका हृदय से आभारी है। अलीगढ़ में रहकर शोध-प्रबन्ध को लिखते समय लेखक को अलीगढ़ मुस्लिम विद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यापकों से, प्रधानतः डा० गोवर्धननाथ शुक्ल जी से विशेष बड़ी सहायता मिली। श्रद्धेय शुक्ल जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना लेखक अपना कर्तव्य समझता है।

श्रद्धेय गुरु डा० हरवंशलाल शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् (आचार्य और अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग तथा 'डीन' फैकल्टी आफ आर्ट्स, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) की देखरेख और निर्देशन में शोध-प्रबन्ध का सारा कार्य सम्पन्न हुआ। वस्तुतः इस कार्य में लेखक को प्रवृत्त करने का श्रेय उन्हीं को है और उन्हीं के बहुमूल्य परामर्शों से इस ग्रन्थ को इतना सुव्यवस्थित रूप मिल सका। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये लेखक के पास न उचित शब्द हैं, न और शब्दों में आभार प्रकट कर वह उनके अपार स्नेह और सहृदयता का मूल्य कम करना ही चाहता है।

आळवारों का तथा उनके साहित्य का विस्तृत परिचय देने वाला कोई भी ग्रन्थ हिन्दी में अभी तक नहीं निकला है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में आळवारों का परिचय कुछ पंक्तियों में देकर ही सन्तोष कर लिया है। कारण यही रहा है कि इन विद्वानों की पहुँच तमिळ भाषा तक नहीं थी। अतः इनके ग्रन्थों में आळवारों के विस्तृत परिचय की आशा नहीं की जा सकती। प्रस्तुत लेखक का यह सौभाग्य है कि उसकी मातृ-भाषा तमिळ है। अतः लेखक ने हिन्दी-जगत् को आळवार-साहित्य का प्रथम बार विस्तृत परिचय देने का प्रयास किया है। इस प्रकार आळवार भक्तों और हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर लेखक ने प्रथम बार तमिळ और हिन्दी साहित्यों की अमूल्य निधियों को एक स्थान पर एकत्र करने का सुख-संयोग जुटाया है। यह अध्ययन हिन्दी के लिए ही नहीं, बल्कि तमिळ के लिए भी नया सिद्ध होगा। जिन दृष्टिकोणों से प्रस्तुत ग्रन्थ में आळवार-साहित्य का अध्ययन किया गया है, वह तमिळ के लिए नवीन अवश्य होगा। लेखक को इसका पूर्ण विश्वास है। मौलिक शोध की दृष्टि से तमिळ में भी लेखक के ग्रन्थ का मूल्य हो सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आळवार सम्बन्धी जितनी भी सामग्री लेखक ने दी है और -काव्य की तुलना हिन्दी कृष्ण-काव्य से करके जो भी निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें लेखक की अपनी मौलिक मान्यताएँ हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के कई

अध्यायों में मौलिक तथ्य देने की सम्पूर्ण चेष्टा की गई है, जिसके फलस्वरूप कई बातों की नवीन उद्भावनाएँ हुई हैं। भक्ति-आन्दोलन के मूल-ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' के विषय में बहुत जानने की हिन्दी भाषी विद्वानों की बलवती जिज्ञासा को तुष्ट करने के लिए भी यह प्रयास सहायक सिद्ध होगा। वास्तव में यह जिज्ञासा ही लेखक की मूल प्रेरणा रही है। लेखक ने दोनों क्षेत्रों के भक्त-कवियों को निकट लाने का प्रयत्न किया है। हिन्दी और तमिळ के साहित्यों के विभिन्न पक्षों को लेकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए आगे के अध्येताओं को प्रस्तुत अध्ययन से प्रेरणा मिलेगी--लेखक को इसका पूर्ण विश्वास है।

तमिळ, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के जिन-जिन ग्रन्थों से लेखक ने सहायता ली है, उनमें से बहुतों के नाम पाद-टिप्पणी में दिये गये हैं और अन्य प्रमुख विद्वानों और उनके ग्रन्थों के नाम परिशिष्ट में दिये गये हैं। इस अवसर पर लेखक उन सभी विद्वानों का सादर कृतज्ञतापूर्ण स्मरण करता है जिनके ग्रन्थों से लेखक ने अपने अध्ययन में प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त की है।

लेखक की अपनी अनेक सीमाएँ रही हैं। मूलत: लेखक तमिळ भाषी है। अपने भावों को हिन्दी में अभिव्यक्त करने में उचित शब्द-भण्डार का अभाव रहा है। अतः वह अनुभव करता है कि आळवार-पदों के हिन्दी-अनुवाद में वह प्रवाह, माधुर्य और सरलता आ नहीं सकी जो मूल-रचना में है। लेखक ने आळवारों के पदों का (शब्दानुवाद नहीं कर) स्वतन्त्र भावानुवाद ही प्रस्तुत किया है। तुलनात्मक अध्ययन में लेखक ने यथासम्भव निष्पक्ष दृष्टिकोण रखा है। किसी साहित्य को छोटा या बड़ा दिखाना उसका उद्देश्य कदापि नहीं है। यह आवश्यक भी नहीं है कि लेखक के निष्कर्ष सर्वमान्य हों। सम्भव है कि इस ग्रन्थ में अनेक त्रुटियाँ भी रह गयीं हों। विद्वज्जनों के सत्परामर्शों के लिए लेखक उत्सुक है। अपनी सीमाओं में रहकर लेखक ने भारतवर्ष की दो प्रमुख भाषाओं के भक्ति-साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। अगर यह अध्ययन दोनों भाषाओं के साहित्यों को निकट लाने में कुछ भी सहायता करे तो लेखक के लिए उतना ही पर्याप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में **'विनोद पुस्तक मन्दिर'** के संचालक श्री भोलानाथजी ने जो उत्साह दिया, उसके लिए लेखक उनका विशेष आभारी है। न चाहते हुए भी मुद्रण की कुछ त्रुटियाँ यत्र-तत्र रह गयी हैं, जिनका सुधार अगले संस्करण में अवश्य ही कर दिया जायगा।

अलीगढ़
१२-७-६४

—मलिक मोहम्मद

विषयानुक्रमणिका

अध्याय | विषय | पृष्ठ

अध्याय | विषय | पृष्ठ

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

भक्ति का विकास और उसमें तमिऴ् का योगदान

हिन्दी साहित्य के स्वर्ण-युग—भक्तिकाल में भक्ति की जो पावन पयस्विनी प्रवाहमान हुई, उसमें दीर्घकालीन भारतीय जीवन-दर्शन की गहन अनुभूतियों, संस्कारों एवं परम्पराओं का सन्निवेश था, जिसने कि भारतीय जन-जीवन में एक नवीन चेतना एवं स्फूर्ति का सञ्चार कर उसे रससिक्त कर दिया। विभिन्न युगों के अभेद्य स्तरों के बीच से मन्द-मन्द, परन्तु अव्याहत गति से बहती हुई अनेक दिशाओं में उल्टी-सीधी बहकर विविध विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई आने वाली भक्ति-सरिता ने भारतीय भक्ति-साहित्य-सागर को इतना लबालब भर दिया कि आज भी उसकी तरल तरंगों में मज्जन और अवगाहन करने से चिर शान्ति प्राप्त होती है।

भक्ति की यह धारा वैदिक युग से ही प्रवाहित मानी जाती है। भक्ति के उद्भव और विकास के विषय में विद्वानों के मत-मतान्तर होने पर भी, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भारतीय भक्ति-भावना के क्रमिक विकास में तमिऴ भाषा और तमिऴ-प्रदेश[1]

१. तमिऴ-प्रदेश को "द्राविड़" और तमिऴ वाणी को "द्राविड़-भाषा" कहने की प्रथा बहुत पुराने काल से चली आ रही है। "द्राविड़" शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत विद्वानों का मत है कि वह शब्द संस्कृत का है और "द्रव्" (भागना) तथा "विड़" (देश) के संयोग से बना है। आर्यों से पराजित होकर भारत के मूल निवासी उत्तर भारत को छोड़कर दक्षिण की ओर भाग गये थे। अतः उस भाग का नाम द्राविड़ पड़ गया। इस शब्द का दूसरा अर्थ-भारत का दक्षिणी कोना भी है। कुछ लोगों का कथन है कि 'तमिऴ' शब्द का अपभ्रंश रूप ही द्राविड़ है। "द्राविड़" और "तमिऴ" पर्यायवाची शब्द हैं।

"On the other hand 'Tamil' is the original word, or name on the analogy of which the word 'Dravida' has been coined by Sanskritists"

K. Rama Krishnaiya J S. V O I., Vol 14, Pt. I, p 9

विकास में जो महत्वपूर्ण योग दिया है, उस पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक समझा गया।

वैदिक भक्ति-परम्परा[1]

भारतीय धर्म-साधना का मूल-स्रोत वेदों में पाया जाता है। यद्यपि वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्यक्ष रूप से अनुराग सूचक "भक्ति" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और "भक्ति" शब्द से साक्षात् उपासना का भी लक्ष्य नहीं कराया गया है, तथापि वेदों में भक्ति का बीज मिल ही जाता है। "भक्ति" शब्द का इस अर्थ में प्रथम प्रयोग जिसने कि वह परवर्ती भक्तों में प्रचलित हुआ, श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही मिलता है।[2] वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म-काण्डों की प्रधानता होते हुए भी जिस तरह ज्ञान काण्ड का विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है, उसी तरह ज्ञान के बाद भक्ति की परम्परा का भी संधान ऋचाओं के आधार पर सम्भव है।

विष्णु की उपासना का मूल रूप वैदिक-काल से ही पाया जाता है। आर्य लोग अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं में किसी न किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा में यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान भी किया करते थे। वे अपने दैनिक जीवन को आनन्द के साथ व्यतीत करते थे और ऐहिक सुख की प्राप्ति करने के उद्देश्य से देवताओं की स्तुति करते थे और उनसे विनय अथवा प्रार्थना भी करते थे। प्रारम्भ में इन देवताओं में इन्द्र, वरुण, मरुत्, रुद्र आदि प्रमुख थे जो सर्वशक्तिमान, सृष्टि के आदि कारण, परब्रह्म के ही स्वरूप समझे जाते थे। आगे चलकर विष्णु संहिता-काल में सर्वप्रथम एक साधारण देवता के रूप में ही दीख पड़ते हैं। जिन जिन प्रमुख देवताओं की कल्पना पहले पृथक्-पृथक् रूपों में की जा रही थी, वे कालान्तर में केवल एक के ही विविध रूपों में दीख पड़ने लगे और अन्त में उनके विभिन्न नामों का प्रयोग उसी के लिए होने लगा।[3] इस तरह बहुदेववाद के स्थान पर एकदेववाद की स्थापना होने लगी। ऐसे परिवर्तन-काल में विष्णु का महत्व

---

१. चूँकि अनेक विद्वानों द्वारा वैदिक भक्ति के विकास पर विस्तार से लिखा जा चुका है, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेप में विवरण देना पर्याप्त समझा गया। विस्तृत विवरण के लिए ये ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं :—

"भक्ति का विकास"—डा० मुन्शीराम शर्मा,
"वैष्णव धर्म"— परशुराम चतुर्वेदी आदि।

२. "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ,
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२३

३. "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं. यमं मातरिश्वानमाहुः"
ऋग्वेद १ १६४ ४६ से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है

भी बढ़ने लगा । आरम्भिक काल के देवताओं में इन्द्र सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ थे और विष्णु इन्द्र के सहायक[1] के रूप में ही समझे जाते थे और कहीं-कहीं इन्द्र के समान भी माने जाते थे । धीरे-धीरे विष्णु का प्रभाव बढ़ता गया और वे इन्द्र से भी बढ़े समझे जाने लगे । जैसे-जैसे लोगों का आत्मचिन्तन शुरू होता गया और तत्व दार्शनिक तत्वों का अनुसंधान करने की परिपाटी विकसित होती गयी, वैसे ही वैसे वैदिक धर्म के सुव्यवस्थित साहित्य का सूत्रपात हुआ । ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना-काल तक विष्णु का प्रभाव इतना बढ़ा कि इन्द्र तथा अन्य देवताओं के अनेक विशेषण विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगे । हरि, केशव वासुदेव, हृषीकेश, पुरुष, गोविन्द आदि नाम जो इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते थे, विष्णु को मिल गये ।[2] साथ ही विष्णु की महत्ता में चमत्कार एवं अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और वे एक सर्वशक्तिमान्, आत्म रक्षक, सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए । वैदिक साहित्य में सृष्टि-निर्माता के देवता के रूप में "नारायण" का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है । आरम्भिक काल में विष्णु और नारायण भिन्न व्यक्ति थे । ब्राह्मण काल में यह नारायण नाम भी विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगा और उनके गुणों को विष्णु के गुणों में सम्मिलित कर लिया गया । इस प्रकार विष्णु की उपासना का एक विशाल क्षेत्र तैयार हो गया ।

विष्णु की उपासना का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के पश्चात् यह विचार करना है कि उसका वैष्णव धर्म के सुव्यवस्थित रूप में संगठन किस प्रकार हुआ । कदाचित् महाभारत काल तक आते-आते वैष्णव धर्म का एक सुगठित रूप प्रकट हुआ जो भागवत या सात्वत-धर्म कहलाया । इस भागवत धर्म (सात्वत धर्म) के मुख्य उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण थे ।[3] और वे ही उसके प्रवर्तक भी माने गये । जिस प्रकार विष्णु और नारायण पहले पृथक् पृथक् थे और बाद में एक हो गये, उसी प्रकार वासुदेव और "कृष्ण" आरम्भ में अलग-अलग थे और कालान्तर में एक ही समझे जाने लगे । बाद में वासुदेव-कृष्ण, विष्णु-नारायण के भी पर्यायवाची हो गये ।[4] इस प्रकार विष्णु-नारायण, वासुदेव कृष्ण के एकीकरण के साथ-साथ वैष्णव धर्म के विकसित रूप का पूर्ण चित्र उपस्थित हुआ । षड् ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण विष्णु ही 'भगवान्' कहलाये और उनकी भक्ति करने वाले 'भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हुए । विष्णु-भक्तों के उपास्य धर्म के कारण इस धर्म का नाम 'भागवत-धर्म' पड़ा ।

---

१. "इन्द्रस्य युज्यः सखा"—ऋग्वेद १।२२।१९

२. "वैष्णव धर्म"—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४

३. "वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।"

— श्रीमद्भागवत १।२।७

4. Materials for the study of Farly History of Vaishnava Sect.

—Hema Chandar Ray Chaudhuri, p. 22.

भागवतों के उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण या कृष्ण जिस कुल में पैदा हुए थे उसका नाम था यादव वंश, जिसे 'सात्वत वंश' भी कहते थे। इसी यादव अथवा सात्वत कुल के कारण भागवत मत का दूसरा नाम 'सात्वत' हो गया। महाभारत मे 'सात्वत' और वासुदेव को एक ही कहा गया है। डा० भाण्डारकर के अनुसार 'सात्वत' शब्द वृष्णि-वंशीय के एक उपनाम की तरह व्यवहृत होता था और उसी मे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध हुए तथा सात्वतों का एक पृथक् संप्रदाय भी था जिसके अनुसार वे वासुदेव की पूजा, उन्हे परमात्मा समझ कर किया करते थे।[1]

भागवत या सात्वत धर्म के उपास्य वासुदेव-कृष्ण, कृष्ण और देवकी-पुत्र कृष्ण इनमें क्या सम्बन्ध है, ये अलग-अलग नाम किस प्रकार एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगे? यह एक समस्या के रूप में उपस्थित है, जिसका समाधान केवल अनुमान से ही संभव है। वासदेव-कृष्ण शब्द का दूसरा अंश अर्थात् 'कृष्ण' शब्द ऋग्वेद (मंडल ८) में एक 'सूक्त' के ऋषि का नाम है। ये आंगिरस गोत्र के थे। छान्दोग्य उपनिषद् के कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे। अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक कृष्ण और उपनिषद् के कृष्ण जब दोनों एक ही गोत्र के हैं, तो स्पष्ट है कि 'कृष्ण' उपनिषद् के युग तक ऋषि होते आये। आगे वासुदेव और कृष्ण जब एक हो गये तब कृष्ण को भी वृष्णि वंश मे मिला लिया गया। घोर आंगिरस के उपदेशों को कृष्ण ने गीता मे सुरक्षित कर दिया। इसका प्रमाण यह है कि छान्दोग्य उपनिषद् तथा गीता की बहुत सी बातें मिल जाती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देवकी-पुत्र कृष्ण ने जो उपदेश अपने गुरु घोर आंगिरस से ग्रहण किये थे, उन्ही के अनुसार वासुदेव कृष्ण ने भी 'गीता' के द्वारा अपने मित्र अर्जुन को उपदेश दिया। इस प्रकार वासुदेव कृष्ण और देवकी-पुत्र कृष्ण आगे चलकर एक मान लिये गये। पहले ये ईश्वर नहीं माने जाते थे। परन्तु सात्वतों ने उन्हें ब्रह्म मान लिया और आगे चलकर वे पुरुषोत्तम स्वीकृत हो गये।

गीता में जिस भागवत धर्म का उपदेश दिया गया है, उसका चरम लक्ष्य एकांतिक भक्ति का निरूपण करना है—**'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'**[2] यही इस शुद्ध एकान्तिक भक्ति का रहस्य है। यद्यपि गीता में भक्ति के दार्शनिक पक्ष, सांख्य-पक्ष एवं साधना पक्ष का वर्णन मिलता है, तो भी अन्तिम पक्ष अर्थात् साधना अथवा उपासना-पक्ष पर ही अधिक ज़ोर दिया गया है। अतएव यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भगवद्गीता भक्ति का ही एक प्रधान ग्रन्थ है, जिसमें वैष्णव धर्म द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध एकान्तिक भक्ति का उज्ज्वलतम स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण-भक्ति का प्रथम व्यवस्थित रूप गीता में उपलब्ध होता है।

1. Vaishnavism, Shaivism and other minor Religious Sects.
—Dr. R. G. Bhandharkar, p. 12,

२ भगवद्गीता, अ० १८।६६

मेगस्थनीज के समय तक कृष्ण की पूजा उत्तरी भारत में होने लगी थी। कहा जाता है कि सात्वत लोग दक्षिण भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए गये। 'नासिक' के शिलालेख से स्पष्ट है कि ईसा के पूर्व ही कृष्ण-भक्ति का प्रचार दक्षिण की ओर भी गया। राजस्थान के 'घुसुण्डी' के लेख से पश्चिम में इस भक्ति का प्रचार प्रमाणित होता है।[1]

वैष्णव मत का अन्तिम विकसित रूप पाँचरात्र मत में उपलब्ध हुआ। पाँच-रात्र मत के उद्भव-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वैष्णव आचार्यों के मतानुसार पाँचरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है। सर्वप्रथम 'पाँचरात्र', शब्द का प्रयोग 'शतपथ ब्राह्मण' में हुआ है। इसमें कहा गया है कि नारायण ने समस्त प्राणियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के हेतु 'पाँचरात्र-सत्र' किया था। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' को देखने से यही मालूम पड़ता है कि पाँच-रात्र आचार वैदिक आचार पर ही आश्रित है। इस उपाख्यान में कहा गया है कि महर्षि नारद ने भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेत द्वीप में पहुँचकर नारायण ऋषि से पाँचरात्र मत के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया और लौटकर इस देश में उसका प्रचार किया। ईश्वर संहिता में वैष्णव संप्रदाय को 'एकायन' कहने का यह अर्थ बताया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए यही एक मात्र 'अयन' उपाय अथवा मार्ग किंवा साधन है। पाँचरात्र मत का आराध्य 'वासुदेव' है। वासुदेव ही परब्रह्म परमात्मा हैं। वे ही सृष्टि के आदिकर्ता हैं। पाँचरात्र मत में व्यूहवाद का बड़ा महत्त्व है। ये व्यूह हैं--वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। संकर्षणादि वासुदेव के ही रूप हैं और जीव मात्र के प्रतीक हैं। सभी व्यूहों की उत्पत्ति भगवान् से ही होती है। पाँचरात्र धर्म के साधन-पक्ष और सिद्धान्त-पक्ष के निरूपण के लिए अनेक पाँचरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ। इनमें १०८ मुख्य हैं। इनमें पौष्कर, सात्वत, जयाख्य, ये तीन अत्यन्त प्रधान हैं। पाँचरात्र संहिताओं में ब्रह्म, जीव तथा जगत् के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की गई है।

पाँचरात्र का मुख्य उद्देश्य--भक्ति के साधन-मार्ग का निरूपण करना है। संहिताओं के अनुसार मन्दिर का निर्माण करके उसमें आराध्य-देव का स्थापन करना चाहिए और विधिवत् अर्चना भी उसमें होनी चाहिए। इस दुःखमय संसार से मुक्ति पाने के लिए एक मात्र साधन 'भक्ति' है। भगवान् भक्तवत्सल हैं और उनकी अनुग्रह-शक्ति जीवों को इस भवसागर से उबार सकती है। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति को

१. नोट--स्मरण रहे कि ईसा-पूर्व के किसी भी भागवत-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ में गोपाल-कृष्ण अर्थात् गोपी-जन-वल्लभ कृष्ण की चर्चा नहीं पायी जाती है। गोपाल-कृष्ण का स्वरूप वैदिक भक्ति-परम्परा तथा तमिळ (द्राविड़) के मिलन के पश्चात् ही विकसित हुआ जिसका विवरण विस्तार से आगे दिया गया है।

उद्बुद्ध करने का सबसे उत्तम उपाय भगवान् की शरणागति है। पाँचरात्रों के लिए शरणागति न केवल एक मानसिक भावना है, बल्कि इस भावना का व्यावहारिक जीवन में विधिवत् अनुष्ठान करना भी अनिवार्य है। जब से इस प्रपत्ति मार्ग वाले पाँचरात्र धर्म का वैष्णव धर्म के साथ एकीकरण हुआ है तब से भक्ति-आन्दोलन में एक नूतन युग का आरम्भ होता है। यह कहा जा सकता है कि तमिळनाड के श्री वैष्णव संप्रदाय ने सबसे पहले पाँचरात्र-धर्म को अपनाया और भक्ति को लोक-धर्म बनाया।[1]

तमिळ की भक्ति-परम्परा (उद्भव और विकास)

तमिळ की एक बड़ी ही प्राचीन भक्ति-परम्परा है। यह कहना कठिन है कि तमिळ जनता में कब से धार्मिक भावना अथवा भक्ति-भावना का विकास-स्रोत प्रारम्भ हुआ था। तमिळ के अति प्राचीन ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण भक्ति के उस प्रारम्भिक काल पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है।

भारतीय धर्म-साधना पर लिखते हुए अपने विशिष्ट ग्रन्थ "हिन्दू एवं बौद्ध धर्म" में सर चार्ल्स इलियट ने स्पष्टतः कहा है कि भारतीय धार्मिक भावना का आदि-स्रोत वह पुरातन द्राविड़ीय सभ्यता है जिसके साथ आर्यों का सम्पर्क एवं समन्वय भारत में आने के पश्चात् स्थापित हुआ। डा० राधाकृष्णनन् "हिन्दू-धर्म" पर लिखते हुए स्पष्टतः व्यक्त करते हैं कि भारत में प्रचलित हिन्दू धर्म वस्तुतः प्रागैतिहासिक सिन्धु-सभ्यता का वह विकसित रूप है जो उस काल से आज तक आन्तरिक एवं बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप यथायोग्य परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के पश्चात् एक समन्वित रूप में उपस्थित है।

श्री 'दिनकर' अपने ग्रन्थ "संस्कृति के चार अध्याय" में लिखते हैं कि—"द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत की सभ्यता का आरम्भ इसी जाति ने किया था······।"[2]

"······वैष्णव मत में भक्ति की जो प्रधानता है, वह मुख्यतः द्रविड़ों की देन है। आर्यों की प्रारम्भिक धर्म-भावना, कर्मकाण्ड और यज्ञ तक ही सीमित थी। उनके प्रारम्भिक साहित्य में उनकी भावुकता का तो प्रमाण मिलता ही है, किन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता कि वे भक्त भी थे। भक्ति असल में आर्यों के पूर्व ही इस देश में थोड़ी-बहुत विकसित हो चुकी थी और आर्यों का ध्यान उसकी ओर तब गया जब वे कर्म-काण्ड से कुछ थकने से लगे। आगे चलकर जब इस देश में भक्ति की बाढ़ उमड़ी तब उसकी प्रधान-धारा भी दक्षिण से आयी।"[3]

---

१. **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन**– डा० हिरण्मय, पृ० १९।
२. **संस्कृति के चार अध्याय (द्वि० सं०)** श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ० २८
३. **वही, पृ० ७२**

स्थान एक परम शक्तिमान् परमेश्वर के प्रति परम विश्वास ने ले लिया। सम्भव है, इस विश्वास के मूल में भी किसी अव्यक्त परम शक्ति का भय रहा हो। पर ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, भय कम होता गया और उसका स्थान प्रेम एवं भक्ति ने ले लिया। इस तरह (बहुत प्राचीन काल में ही) तमिळ लोगों के हृदय में भगवान् की भावना जाग्रत हुई थी और वे आये दिन की युद्ध भावना और क्रूरता को त्यागकर शान्ति की ओर उन्मुख हुए।

"उत्पन्ना द्राविडे साह"[1] यह उत्तर भारत में एक सर्वविदित लोकोक्ति है। पर यह दक्षिण के उस 'भक्ति-आन्दोलन' की ओर संकेत करती है जिसमें प्रकट रूप से आळ्वार और नायनमार' तथा अन्य सन्तों ने अपने-अपने दिव्य अनुभूतिमय गीतों से जनता को मन्त्र-मुग्ध किया था। परन्तु इससे अनेक शताब्दियों के पहले ही तमिळ-साहित्य में उसके प्रारम्भिक काल में भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी तथा देवी-देवताओं की उपासना-पद्धतियों का पूर्ण विकास हो चुका था। तमिळ के सहस्रों वर्षों के महान् इतिहास में यह भक्ति-धारा उत्तरोत्तर पुष्टि पाकर कैसे बड़े प्रवाह के रूप में बहने लगी—इसका थोड़ा-सा परिचय उपलब्ध लिपिबद्ध साहित्य के आधार पर यहाँ देने का प्रयास किया गया है।

तमिळ-साहित्य के इतिहास में ईसा-पूर्व ५०० वर्ष से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी तक का काल संघकाल[2] कहलाता है। तीसरी शताब्दी से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक के काल को संघोत्तर काल अथवा बौद्ध-जैन-काल कहा जाता है। इस काल को 'भक्ति-पूर्व-काल' भी कहते हैं। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल अर्थात् आळ्वार और नायनमारों का काल 'भक्ति-काल' कहलाता है।

संघ-काल की प्रकृति-पूजा

संघ-काल के अन्तर्गत साधारणत: संघ-पूर्व काल को भी लिया जाता है। संघ-पूर्व काल का एक मात्र ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' उपलब्ध है। यह एक लक्षण ग्रन्थ है। इस लक्षण ग्रन्थ से बहुत पहले ही उसके लक्ष्य-साहित्य के आविर्भाव का पता चल जाता है। स्वयं 'तोलकाप्पियम्' के रचियता ने स्वीकार किया है कि उन्होंने अपने जो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, वे पूर्ववर्ती साहित्यकारों द्वारा संकेतित अथवा प्रवर्तित सिद्धान्तों पर ही आधारित है।[3] तोलकाप्पियम् की पूर्वकालीन प्राचीन अवस्था का द्योतक तमिळ साहित्य अब उपलब्ध नहीं। अत: तत्कालीन समाज की भक्ति की कौन-

---

१. भागवत माहात्म्य १।४८
२. कई तमिळ विद्वानों का मानना है कि प्राचीन काल में तमिळ-देश में साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन देने तथा प्रत्येक रचना को साहित्यिक कसौटी पर परखने के लिए तत्कालीन राजाओं के तत्वावधान में एक कवि-परिषद् की स्थापना हुआ करती थी, जिसको 'संघम्' की संज्ञा दी जाती थी।
3 Tolkappiam —Porul Puraturai, Sutras 77 and 78.

कुरिंजि या पर्वत-भूमि के लोगों के देवता 'सेयोन' अथवा 'मुरुगन' थे। 'मुरुगन' को तमिळ लोगों की विशिष्ट अद्‌भुत सौन्दर्यमय कल्पना सृष्टि मान सकते हैं। 'मुरुगन' शब्द सुगन्ध, दिव्य, तेज, बालकपन, सौन्दर्य युक्त देवता की ओर लक्ष्य करता है। ये लाल वर्ण में चमकने वाला शरीर, जिसमें नित नूतन यौवन की सुषमा बसती है, और अनुपम शक्ति युक्त देवता माने जाते हैं। ये प्रेम के देवता भी माने गये हैं। अविवाहित कन्याएँ योग्य वर को पाने के लिए उस देवता की पूजा करती थीं। भाला इनका आयुध है। इनके वीर-स्वरूप के सूचक दण्डायुधन, दण्डपाणि वेलन, वेलायुधन, सेन्दन आदि नाम भी तमिळ-प्रदेश में प्रचलित हैं। 'संघम्' साहित्य के पत्तुपाट्टु नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित 'तिरुमुरुगाट्रुप्पडै' नामक काव्य में मुरुगदेव की पूजा-प्रणाली, उनके छः स्मरणीय निवास स्थान तथा अन्य महिमाओं का विस्तार से वर्णन है। 'परिपाडल' नामक दूसरे कविता-संग्रह में उपलब्ध पद्यों में आठ मुरुगन की स्तुति मे प्रस्तुत किये गये हैं। पहले इनकी पूजा 'कुरवर' नामक पर्वतवासी लोगों के बीच मे बड़ी धूम-धाम से हुआ करती थी। 'कुरवर' शिकारी लोग थे। 'मुरुगन' भी शिकारी माने गये हैं। पर्वतवासी अपने प्रिय देवता के सामने मधु-मांस, भात आदि चढ़ाकर भैंस, बकरे की बलि भी देते थे। इस पूजा का संयोजक पुजारी होता था जिसको पर्वतवासी अपना गुरु मानते थे। पूजा के समय पुजारी रक्त वर्ण 'कांदल' पुष्प कान में पहन कर डमरू लिकाकर गरजने वाले शब्दों में सगकर ताण्डव नृत्य करता था। 'तोल्काप्पियम्' में इस ताण्डव नृत्य को 'वाडल' कहा गया है। नृत्य के बीच पुजारी आवेश में आकर मुरुगदेव का माध्यम बनकर भविष्यवाणी भी दिया करता था। पूजा के समय पहाड़ी नर-नारी भी प्रार्थना गीत गाकर 'कुरवै' नामक नृत्य करते थे। कहा जाता है कि मुरुगदेव भी भक्तों के बीच पर्वत की कन्याओं से हाथ मिलाकर स्वयं आनन्दपूर्वक नाच करते थे और उनको अभीष्ट वरदान देते थे। लोगों का विश्वास था कि मुरुगन, द्राविड स्त्री-देवता कोट्रवै के पुत्र थे और युद्ध के अधिदेवता थे। इस प्रकार प्रारम्भ में मुरुगन को केवल पर्वतवासी वन्य नृत्य और पशुबलि आदि से पूजते थे। परन्तु बाद में अन्य वैदिक देवताओं की तरह इनके लिए भी मन्दिर बने और ये वैदिक ढंग से मन्दिरों में आराध्य देव हो गए। इन्हीं को संस्कृत में स्कन्द, कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य आदि नामों से पुकारा जाता है। मूलतः ये द्राविड़ अथवा तमिळ देवता थे।[1] इनसे सम्बन्धित तमिळ-जनता के बीच मे प्रचलित कथाएँ आर्य-लोगों की

1. "The paucity, however, of Murugan temples and worship in North India and even in Central India and the great veneration and reverence shown to this deity in the Tamil land makes it possible that after all *Skanda was a Tamil Deity* and later on, perhaps in the centuries before Christ, the Murugan Cult developed all over India and mystic legend of Skanda's being son of lord Siva himself was skillfully woven by the *Sanskrit Writers* and given **an air of plausibility**

V R. R Dikshitar 'Aryan Path,' Vol 23,pp 72 80

कथाओं में मिल-जुल गयी । फिर भी आर्य-सुब्रह्मण्यम् या कार्त्तिकेय और तमिल के मुरुगन में थोड़ा बहुत अन्तर रह ही गया । सुब्रह्मण्य के सम्बन्ध में अन्तर यह है कि आर्यों के कार्त्तिकेय ब्रह्मचारी माने जाते हैं और तमिलों के मुरुगन विवाहित । इनकी दो पत्नियाँ थीं, जिनके नाम हैं —वल्ली और देवयानी । कहा जाता है कि वल्ली शिकारी जाति की थी, जिस पर मुग्ध होकर मुरुगन ने उससे विवाह कर लिया । तमिल-प्रदेश में यह कथा बहुत प्रचलित है और इसका आध्यात्मिक अर्थ भी लिया जाता है । सुब्रह्मण्य के मन्दिर अधिकांश पर्वतीय प्रदेशों में पाये जाते हैं, जो उनके पर्वतीय प्रदेश के देवता होने की ओर संकेत करते हैं ।

मरुदम् अर्थात् उपजाऊ भूमि के देवता का वर्णन इस प्रकार मिलता है — "वह मेघों का अधिपति है । उसका आयुध वज्र है । जब भूमि गर्मी से झुलस रही होती है तब वह मेघों को भेजकर पानी बरसाता है । वह स्वर्ग अप्सराओं से घिरा रहता है । उसका प्रिय भोज्य पदार्थ पोंगल (एक प्रकार की भात से बनी खिचड़ी) है ।" आजकल भी तमिल प्रदेश में पोंगल त्यौहार (मकर संक्रान्ति) के अवसर पर इस देवता की पूजा होती है । इस देवता का वाहन ऐरावत हाथी और शची पत्नी है । कहा जाता है कि पुराने समय में इन्द्र के लिए अलग मन्दिर भी विद्यमान थे । 'शिलप्पधिकारम्' में इन्द्र के वज्रायुध के लिए एक अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख है ।[1] इसी ग्रन्थ में 'इन्द्रविळा' (इन्द्रोत्सव) का भी वर्णन मिलता है, जिसको तमिल-जनता मेघों के स्वामी इन्द्र को अच्छी फसल मिल जाने के कारण (धन्यवाद रूप में) प्रसन्न करने के लिए मनाती थी । इस ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि यह त्यौहार २८ दिन तक चलता था और पूर्णिमा के दिन इन्द्र की प्रतिमा के अभिषेक के बाद उसका विसर्जन होता था ।

नेय्दल अथवा समुद्रतटी प्रदेश के देवता वरुण[2] थे । मछुए लोग बड़ी धूम-धाम से इस देवता की पूजा करते थे । निर्जीव मछली का दाँत इस देवता का आयुध था । कहा जाता है कि एक पंडित राजा ने समुद्र के अधिष्ठाता वरुण के लिए उत्सव की प्रथा भी चलायी । तंजाऊर में इन्द्र और वरुण के लिए भी मन्दिर थे, इसका पता शिलालेखों से चलता है ।[3] तमिलों के ये इन्द्र और वरुण आर्य देवताओं से भिन्न थे या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता । हो सकता है कि द्रविड़ों के उपर्युक्त दोनों देवता आर्यों के इन्द्र और वरुण में मिल गये हों । इन दोनों देवताओं का स्थान अन्य देवताओं की अपेक्षा गौण है । जिस प्रकार मुरुगन के मन्दिर आज भी पर्वतीय प्रदेशों में विद्यमान हैं, उस प्रकार इन्द्र और वरुण के मन्दिर आज उपजाऊ भूमि और समुद्रवर्ती प्रान्तों में विद्यमान नहीं हैं ।

---

१. शिलप्पधिकारम् —काडै ५, १२ ।
२. पुरम् ६, १० ।
३. South Indian Inscriptions, Vol. I p 414

पालै अथवा मरुभूमि की अधिष्ठात्री देवी कोट्रवै थी । यह युद्ध में विजय प्रदान करने वाली मानी गयी है । अतः युद्ध मे विजय पाने पर इस देवी को धन्यवाद देने के लिए उसकी पूजा करते थे ।[१] इस देवी के उपासक 'मरवर' या 'कल्लर' लोग थे जो आखेट आदि क्रूर कृत्यों से अपनी जीविका चलाते थे और इस देवता को प्रसन्न करने के लिए पशुओं तथा मनुष्यों की भी बलि चढ़ाते थे । मदिरा, माँस इस देवता के प्रिय भोज्य थे । वास्तव में पालै प्रदेश के लोग जैसे भयंकर और क्रूर स्वभाव के थे, उनके देवता भी वैसे ही क्रूर और भयंकर थे । 'शिलप्पधिकारम् में उसको तीन आँखों वाली कहा गया है । उसके पैरो पर पायल होती थी और महिषासुर के सिर पर रखे बताये जाते हैं । 'मणिमेखलै' में उल्लेख मिलता है कि इस देवी के पुजारी 'भैरव' कहलाते थे जो तांत्रिक मन्त्रों का उच्चारण कर उसकी पूजा करते थे । वह चिर यौवना बतायी गयी है । उसके अनेक मन्दिर निर्मित थे । कन्याकुमारी के मन्दिर मे जिस देवी की मूर्ति है, इस देवी की बतायी जाती है । इसका उल्लेख विदेशी यात्री पिलिनि ने किया है और 'पेरिप्लस' मे भी उल्लेख है ।[२] कहा जाता है कि एक बार मदुरा में इस देवी के मन्दिर के फाटक अपने आप बन्द हो गये । पाड्य राजा ने इसे देवी का प्रकोप समझकर, उसको प्रसन्न करने के लिए दो ग्रामों की आय का महसूल इस देवी की पूजा के लिए शाश्वत रूप मे निश्चित कर दिया ।[3] कोट्रवै अथवा कालिका द्रविड़ लोगों की कल्पना प्रसूत मानी जाती है, यद्यपि बाद मे आर्यों की दुर्गा, पार्वती आदि देवियों के अंश भी उसमे आ गये ।

शिव भी पहाड़ी प्रदेश के देवता माने गये है । महेन्द्रगिरि (पश्चिम घाट का एक पर्वत) पर इनका निवास-स्थान था । ये मनुष्यों के जीवन और मरण के स्वामी माने जाते थे । ये सत्य के साक्षात् स्वरूप थे ।[४] जो सत्य मार्ग से दूर जाते, ये उनको दण्ड देने के लिए उनका सत्यानाश कर देते थे । 'शिव' द्रविड़ लोगों के सबसे प्राचीन देवता माने जाते हैं । इनको पहाड़ी प्रदेश के अधिदेवता "शेयोन' या 'मुरुगन' का पिता माना गया है । तमिळ पुराणों में लिखा है कि तमिळ भाषा का निर्माण शिवजी ने किया था और बाद में उसके व्यापक प्रचार के लिए अगस्त्य मुनि को तमिळ भाषा का ज्ञान दिया था । प्राचीन तमिळ-संघों के संस्थापक 'शिव' और 'मुरुगन' को माना जाता है । कहा जाता है कि संघ-साहित्य के सर्जन में उन्होने सक्रिय योग दिया था । इस काल के कुछ ऐसे गीत मिलते हैं जो "इरैयनार पाट्टु" अथवा "शिव" द्वारा रचित गीत कहलाते हैं । संघ-साहित्य से पता चलता है कि उस समय शिव से सम्बन्धित

१. तोलकाप्पियम्-पोरुल, सूत्र ५६ ।
2. Cultural Heritage of India, Vol. IV. (First Edition)
—Skanda Cult in South India : V. R. R. Dikshitar, pp. 252-257.
३. 'शिलप्पधिकारम् २३, ११३-१२५
४. परिपाडल, ५, २३

संघोत्तर काल की रचनाओं से पता चलता कि बलदेव के लिए भी मन्दिर थे। मदुरै जिले के कुछ मन्दिरों में विष्णु सहित बलराम के विग्रह मिलते हैं। शिलप्पधिकारम् 'मणिमेखलै' तथा पुरनानूरु मे बलदेव का उल्लेख है।[1] शिलप्पधिकारम् के अनुसार चोल राजाओ की प्रधान नगरी कावेरी पूंपट्टिनम् मे षण्मुख वाले अरुण वर्ण 'शेयोन' (मुरुगन), श्वेत शंख-सा रंग वाले 'बलदेव', नीलमणि जैसे प्रकार युक्त 'तिरुमाल', 'मुक्तमाला तथा विजयी छत्र सहित इन्द्र देव—इन सभी के लिए अलग-अलग मन्दिर थे।

वैदिक देवताओ की तरह अनेक छोटे-मोटे प्राकृतिक तत्व भी देव-भावना से पूज्य संघ-साहित्य मे मिलते हैं। भूत-प्रेत, वायु, सूर्य, चन्द्र, नगर, वृक्ष, नदी, पहाड़ आदि के स्थानीय देवताओं (Local Gods) के लिए स्थान-स्थान पर पूजा होती थी। अल्प बुद्धि ग्रामीण जनता जिसके लिए सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की कल्पना कठिन थी, छोटे-मोटे अनेक ग्राम देवताओ में भय के कारण विश्वास रखती थी।[2] मारियम्मा (शीतला) देवी की पूजा होती थी। ऐसी पत्नियों के जो अपने पातिव्रत के लिए प्रसिद्ध हुई थी, तथा ऐसे पुरुषों के जिन्होंने अपार वीरता का प्रदर्शन कर प्राण त्याग भी कर दिया था—सम्मान के लिए शिलाओं ("नडुकल"[3]) की स्थापना होती थी और उन शिलाओ में मृतकों के स्मारक चित्र तथा लेख भी अंकित कर पूजन-पद्धति चलती थी। "शिलप्पधिकारम्" नामक संघोत्तर कालीन महाकाव्य की नायिका "कण्णकि" ऐसी पत्नी थी जिसने अपने आदर्श पातिव्रत द्वारा पतिहत्या का बदला लिया था। कहा जाता है कि सेंगुट्टुवन नामक चेर राजा "कण्णकी" के स्मारक बनाने के लिए हिमालय से शिला लेकर आया था और उसने उस शिला में पत्नी-देवी के रूप में मूर्ति बनवाकर उसे एक मन्दिर मे स्थापित किया था।

इस प्रारम्भिक काल की एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न देवताओ के लिए तमिळ-प्रदेश मे मन्दिर निर्मित होते थे, जहाँ उन देवताओं की पूजादि होती थी। तमिळ-प्रदेश मे वर्तमान अनगिनत मन्दिरों को देखने से स्पष्ट होता है मन्दिर-निर्माण बहुत पुराने काल में ही प्रारम्भ हो चुका था और मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ धार्मिक वातावरण का भी सूत्रपात हो चुका था।[4] मन्दिरो का निर्माण और उनकी रक्षा करना राजाओं के कर्त्तव्यो में से समझा जाता था।[5] ठीक ही तमिळ-प्रदेश को मन्दिरो का देश कहा गया है।

---

1. Annamalai University Journal, Vol. 8. pp. 213-211—"Palan Thamilar Kadavul Vali padu." Prof. E. S. Varadarajanar.
2. Village gods of South India.—R. R. Henry Whith head.
3. An Essay on the Origin of Temples in South India. —Dr. Venkitaramaya, pp. 4–5.
4. "Origin of South Indian Temples" Dr Venkitaramaya
५. —मदुरैक्काञ्चि सूत्र १०, इर्सपुरनार की टीका।

ऊपर हमने प्राचीनकाल की तमिळ-प्रदेश की धार्मिक स्थिति का परिचय दिया है। उपर्युक्त विवेचन से पता चलेगा कि आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के सम्मिलन के पूर्णतः घटित होने पर भी तमिळ-प्रदेश की धार्मिक भावना या भक्ति-भावना द्रविड़त्व को लेकर है। द्रविड़ देवताओं और आचरणों का विकास मुख्य रूप से विद्यमान है। प्रारम्भ में विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न पूजा पद्धतियाँ भी दृष्टि-गोचर होती हैं। किन्तु इन आचरणों के व्यवहार-पक्ष के साथ साथ, प्राचीन साहित्य में उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन का पक्ष भी स्पष्ट दीख पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि तमिळों के प्राकृतिक एवं रक्तमिश्रित आचरण उनके उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन से मिश्रण लिए हुए हैं। आस्थामय विश्वास सम्बन्धी व्यावहारिक आचरण और उस धर्म के ऊँचे स्तर के विचार -- दोनों के बीच कहीं गहरी खाई सी नहीं मालूम पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संघ-कालीन कवियों ने जीवन की शाश्वत मान्यताओं तथा शिष्टाचार के ऊँचे आदर्शों पर भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। संघ-काल की कुछ रचनाओं में कवियों ने उच्च कोटि के भक्त-भाव भी व्यक्त किये हैं। एक सर्वशक्तिमान भगवान् की कल्पना कर उससे आत्मीयता सम्बन्ध रखने की बात यत्र-तत्र संघ-साहित्य में देखने को मिलती है।

तमिल-प्रदेश में तिरुमाल-धर्म (वैष्णव-धर्म) की प्राचीनता

यह पहले लिखा जा चुका है कि "संघम्" युगकाल की लक्षण रचना "तोल्काप्पियम्" में तमिळ-प्रदेश के पाँच भू-भागों और उनके अधि-देवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन पाँचों देवताओं (मायोन, सेयोन, इन्द्र, वरुण, कोट्रवै) में मायोन या तिरुमाल का स्थान सबसे ऊँचा था। "तोल्काप्पियम्" के रचयिता ने भी विभिन्न भू-भागों तथा उनके अधि-देवताओं का उल्लेख करते समय सबसे पहले मुल्लै-प्रदेश (वनभूमि) के देवता तिरुमाल का ही नाम लिया है।[1] बाद के प्रसिद्ध कवि सेक्किलार ने भी अपने ग्रन्थ "पेरियपुराणम्" के विभिन्न देवताओं में "तिरुमाल" के महत्वपूर्ण स्थान का समर्थन करते हुए उनका वन-भूमि के देवता के रूप में उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वन-भूमि (मुल्लै-प्रदेश) में जन्म लेकर तिरुमाल-धर्म धीरे-धीरे अन्य भू-भागों में भी फैलने लगा। मुल्लै अथवा वन भूमि के गोचारण के व्यवसाय में संलग्न "आयर" कहलाने वाले ग्वाले लोग रहते थे। उनके इष्टदेवता "मायोन" (बाद के साहित्य में कण्णन) का पालन पोषण भी, कथाओं के अनुसार आयरकुल में ही हुआ था। "मायोन" शब्द का अर्थ है— "श्याम रंग वाला।" कदाचित् इस रंग का सम्बन्ध "आयर लोगों" की निवास-भूमि मुल्लै के वन-प्रदेशों में आकाश-वीथि में एकत्रित होने वाले मेघों से हो सकता है जिसके रंग में "आयर" लोग रमे होंगे और अपने इष्ट देवता के वर्ण की कल्पना इस प्रकार की होगी :—

---

१ ——— —— सूत्र ५ और ३० ।
2. Periya Th rukurri r 18

"तिरुमाल" शब्द भी "मायोन" के लिए प्रयुक्त होता है, जो देवताओं के विशिष्ट स्थान को सूचित करने के लिए व्यवहृत होने लगा था। तोलकाप्पियम् "तिरुमाल" का मानव जाति के रक्षक के रूप मे उल्लेख करता है।[1] "तोलकाप्पियम्" जैसा कि पहले कहा गया है कि एक लक्षण-ग्रन्थ है। उसके रचयिता ने "पूवै निलै" नामक कविता का लक्षण देते समय श्रेष्ठ राजा की तुलना तिरुमाल से कर "तिरुमाल" की स्तुति बहुत ही प्रशसात्मक शब्दो मे की है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि तोलकाप्पियनार ने ऐसे शब्दो का प्रयोग "तिरुमाल" के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के लिए नही किया है। इससे तिरुमाल के महत्व का पता चलता है।

मुल्लै-प्रदेश के वासी अपने देवता तिरुमाल की उपासना मे, विशेष रूप से उसके प्रारम्भिक जीवन की बाल-लीलाओ में बहुत रम जाते थे। आयर कुल की नारियाँ उस दिव्य-पुरुष की रम्य लीलाओं के स्मरण मे अपने हृदय को खो देती थी, जिसका बालकपन भी उन्ही की वनभूमि मे घटा था। इस देवता के बालकपन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएँ तमिळ जनता की कल्पना के अनुसार जन्म लेने लगी। "मायोन" के प्रति उन आयर रमणियों के प्रेम को लक्ष्य करके ही शायद तोलकाप्पियनार ने लिखा है कि इन रमणियों के हृदय मे वैसा ही गहरा प्रेम अपने इष्ट देवता के प्रति था, जैसा उनको अपने पतियों के प्रति होता था।[2] पता चलता है कि तोलकाप्पियम्-काल (ईसा-पूर्व पाँचवी शताब्दी का काल) से ही "तिरुमाल" या "मायोन" की प्रेम-कथाएँ जन-मानस को पर्याप्त मात्रा मे आकर्षित कर चुकी थीं और संघ-काल मे "तिरुमाल" सम्बन्धी इन कथाओ का खूब प्रचार हुआ।

संघ-साहित्य के प्रति आलवारों का ऋण

इसमे लेशमात्र सन्देह नहीं कि वैष्णव-भक्त आळवारों का काल तमिळ-साहित्य के संघ-काल के पश्चात् ही निश्चित रूप से पड़ता है। क्योंकि आळवारो की रचनाओ मे संघकाल की साहित्यिक परम्पराओं तथा विचार-धाराओ तक का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। आळवारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठभूमि संघ-साहित्य मे देखने को मिल जाती है। कुछ आळवारो ने तो संघ-साहित्य के प्रति अपने आभार को प्रकट भी किया है। यह स्वाभाविक ही है। क्योंकि किसी कवि के काव्य का सम्बन्ध उसके पूर्ववर्ती और समसामयिक युग से बहुत होता है। प्रत्येक कवि अपने युग के प्रभावों से किसी न किसी अंश में प्रभावित होता है और फिर अपनी कृति से अपने युग तथा अपने परवर्ती युग को प्रभावित करता है। इसलिए उस कवि के अध्ययन के लिए उसके पूर्व और समकालीन युग का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में ही उस कवि के काव्य की आलोचना बड़ी सावधानी तथा सहानुभूति से होनी चाहिए।

---

१ तोलकाप्पियम्—पोरुळ सूत्र ६०।

२ वही—पोरुळ ८३ ८४

आळ्वारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठभूमि में संघ-साहित्य है। संघ-काल तमिळ साहित्य का स्वर्णयुग है, क्योंकि इस काल में रचे गये तमिळ काव्यों का साहित्यिक महत्त्व सर्वश्रेष्ठ है। इस काल की रचनाओं में तत्कालीन तमिळ जनता के जीवन दर्शन और आचार के सम्बन्ध में प्रचुर मात्रा में विवरण मिल पाते हैं। यह कहा जा चुका है कि इस काल के प्रारम्भ से या उससे पहले वैदिक संस्कृति का आगमन तमिळ-प्रदेश में हुआ और तमिळ संस्कृति में उसका आत्मसात् हुआ। इस काल की रचनाओं में दोनों संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय उभरा हुआ मिलता है। धार्मिक-चेतना के क्षेत्र में एक ओर तमिळ-संस्कृति से और दूसरी ओर वैदिक संस्कृति से भाव प्रचुर विस्तार है। इस काल की रचनाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि जनता में धार्मिक भावना या नया धर्म भी हो चुका था। साथ ही उनमें धार्मिक सहिष्णुता भी दीख पड़ती है और धार्मिक संघर्ष का नाम तक नहीं है। परन्तु बाद में यह बात नहीं रह गयी थी।

इस संघ काल की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस काल में तिरुमाल धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म बहुत प्रचार को पा रहा था। और तिरुमाल सम्बन्धी (वैदिक-परम्परा प्रसूत तथा तमिळ मानस से उत्पन्न) कथाएँ बहुत प्रचलित थीं। स्मरण रहे कि तमिळ-भूमि में "मायोन" या तिरुमाल की कल्पना (पहले से) पृथक् रूप से चल रही थी। संघ काल के साहित्य से ज्ञात होता है कि वैष्णव-धर्म विशेषकर भागवत धर्म एवं अवतारवाद की प्रतिष्ठा, तथा विष्णु-नारायण-वासुदेव कृष्ण और "तिरुमाल" या "मायोन" का एकीकरण पूर्ण और स्पष्ट हो चुका था। आळ्वारों ने इस युग के साहित्य से बहुत कुछ लिया। अतः आळ्वार-पूर्व इस साहित्य में वर्णित वैष्णव भक्ति के रूप पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

संघ-साहित्य में वैष्णव-भक्ति

संघ-काल की रचनाएँ तीन संग्रहों में मिलती हैं--

(१) एट्टुत्तोकै (आठ कविता-संग्रह),
(२) पत्तुपाट्टु (दस वर्णन-काव्यों का संग्रह), और
(३) पदिनेण कीळ्‌ कणक्कु (अठारह लघु-कविता संग्रह[1])

नट्रिणै

"एट्टुत्तोकै-कृतियों में नट्रिणै सबसे प्राचीन मानी गई है। इसमें तिरुमाल (विष्णु) का वर्णन मिलता है। इसमें तिरुमाल की महत्ता और उनके रंग की तुलना

१. "एट्टुत्तोकै" और "पत्तुपाट्टु" में सम्मिलित काव्यों के नाम पहले दिये गये हैं। "पदिनेण कीळ्‌ कणक्कु" संग्रह में सम्मिलित काव्य इस प्रकार हैं :— तिरुक्कुरळ, तिरिकडुकम्, नान्मणिक्कडिगै, सिरुपंचमूलम्, नालडियार, कार् नार्पदु, कळवळि नार्पदु, इनियवै नार्पदु, इन्ना नार्पदु ऐंतिणै [illegible] मुदुमोळि कांची आदि अठारह लघु काव्य।

पर्वल से की गई है। इसमे "भारतम्" के रचयिता पेरुन्देवननार की एक कविता मगलाचरण के रूप मे संगृहीत है। पेरुन्देवनार ने अहनानूरु, पुरनानूरु, कुरन्तोकै, एगुरुनूरु आदि कविता-संग्रहो मे भी मगलाचरण लिखे है। पेरुन्देवनार ने शैव-वैष्णव-भेद से दूर रहकर धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। अन्य कविता-संग्रहो मे जहाँ उन्होने शिव और मुरुगन की स्तुति की है, वहाँ उन्होंने "नट्रिणै" मे तिरुमाल की स्तुति की है।

इस कविता मे कवि ने "तिरुमाल" के विश्व रूप के दर्शन कराये हैं। इनका विश्व रूप वर्णन सात पंक्तियों मे है। कवि ने समस्त विश्व को तिरुमालमय (विष्णु-मय) देखा है। इस पृथ्वी-तल को तिरुमाल के चरणों के रूप में, समुद्र को तिरुमाल के वस्त्र के रूप मे, दिशाओं को करो के रूप में, सूर्य-चन्द्र को तिरुमाल के दो नयनो के रूप मे कवि ने देखा है। इस प्रकार समस्त विश्व मे तिरुमाल की आभा को कवि ने व्याप्त पाया है।[1] कवि के लिए विश्व ही तिरुमाल है, तिरुमाल ही विश्व है। "नट्रिणै" की यह मंगलाचरण कविता उस काव्य-मन्दिर के द्वार के रूप में दीख पड़ती है।

"नट्रिणै" में मंगलाचरण के अतिरिक्त १७५ कवियो की ४०० कविताएँ संगृहीत हैं। इन विभिन्न कवियो के नाम ज्ञात नहीं हैं। इन कविताओ की रचनाओं में आठ स्त्रियाँ भी थी। कपिलर तथा उल्लोच्चनार नामक दो कवियो की कविताएँ इस संग्रह में सर्वाधिक संख्या मे हैं। इसकी एक कविता मे किसी एक कवि ने प्रकृति के सौन्दर्य मे ही तिरुमाल के दर्शन किये है। काले रगीन पर्वत को और उससे कलकल निनाद करके बहने वाली निर्मल निर्झरणी को देखकर कवि को तिरुमाल (और उसके भाई बलराम) का स्मरण हो आता है। संघ-कालीन कवियों ने प्रकृति मे ही तिरुमाल को देखा है। काया-पुष्प (पुष्प विशेष) में, नील गगन मे, नील लहर वाले समुद्र में, कौए के रंग मे सर्वत्र कवि को विष्णु को व्याप्ति का परिचय मिलता है। कवि ने समस्त विश्व को विष्णुमय देखा है।[2] नट्रिणै के अध्ययन से पता चलता कि तत्कालीन जनता तिरुमाल (विष्णु) की महत्ता, महिमा और तिरुमाल से सम्बन्धित कथाओ से पूर्णतः परिचित थी।

पदिट्रुपत्

पदिट्रुपत्तु के रचयिता काप्पियट्रु काप्पियनार ने अपने आश्रयदाता नार-मुडिचेरल नामक चेर राजा को विष्णु-भक्त कहा है। इसमे कहा गया है कि उक्त चेर राजा ने उस तिरुमाल (विष्णु) की उपासना में अपनी प्रजा को लगाया था, जिस तिरुमाल ने वाराहवतार लेकर समस्त पृथ्वी की रक्षा भी की। इसमें उल्लेख है कि

१. व्यासकृत महाभारत—शांति प०, अध्याय ३३९, श्लोक २१-२८ में भी विष्णु के विश्व रूप का वर्णन है।

२ तमिळ म वैष्णवमुमम—एम० पिल्ळै पृ० ६

तिरुमाल-भक्त, शीतल जल में स्नान कर, निराहार व्रत रखकर तिरुमाल के मन्दिर में प्रवेश करते थे और तिरुमाल की महिमा गाकर, तुलसी माला धारी तिरुमाल के चरण कमलों पर पुष्पांजलि अर्पित कर आनन्द में नृत्य करते थे। विद्वानों का अभिप्राय है कि इसमें जिस मन्दिर का उल्लेख है, वह तिरुवनन्तपुरम (स्यानन्दूरपुरी) में स्थित शेषशायी विष्णु का है।[1]

कपिलर नामक प्रसिद्ध कवि ने लिखा है कि सेल्वकडुंगो नामक राजा ने तिरुमाल के प्रति अपनी अपार भक्ति के उपलक्ष्य में उनकी पूजा की व्यवस्था के लिए ओहन्दूर नामक गाँव का राजस्व शाश्वत रूप में दे रखा था। इससे ज्ञात होता है कि तमिळ-प्रदेश के चेर-राज्य में तिरुमाल-उपासना बहुत ही प्राचीन काल से प्रचलित थी।

नक्कीर नामक कवि ने 'पुरनानू'' की एक कविता में बलराम का वर्णन करते हुए लिखा है कि समुद्र में उत्पन्न धवल रंगीन शंख के समान उनकी देह की कांति है और उनके ध्वज पर ताड़ वृक्ष का चिह्न अंकित है।[2] आगे कवि ने बलराम के अनुज कण्णन को, जिनका तन नीलमणि की आभा से युक्त है और जिनका गरुड़ध्वज महान् विजय का द्योतक है, समस्त विश्व की भारी शक्ति और ज्योति का निधान कहा है।[3]

मारोक्कत्तु नप्पसलैयार नामक कवि ने कण्णन (कृष्ण) की एक ऐसी कथा का उल्लेख किया है जो अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलती। सुर और असुरों के बीच जब युद्ध हुआ तो दिन को भी अन्धकार युक्त बनाने के लिए असुरों ने सूर्य को छिपा दिया। सूर्य का प्रकाश न पाकर सारी पृथ्वी अन्धकार से आच्छादित हो गयी और मनुष्य भयभीत हो गये। उस समय नील वर्ण देह-धारी कण्णन (''विष्णु'' का तमिल नाम) ने मनुष्यों के दुःख निवारणार्थ सूर्य को लाकर आकाश में खड़ा कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि इस कवि के समय में यह कथा प्रचलित हुई थी।[4] प्रलयकाल में जल-प्लावन के समय विष्णु के वट-पत्र पर शयन करने की कथा भी वर्णित है।[5]

परिपाडल

'परिपाडल'' में भी विष्णु का वर्णन है। ''पाडल'' शब्द का तात्पर्य ''गीत'' है। कदाचित् इस संग्रह में संगृहीत कविताएँ उस समय गीत-रूप में गायी जाती थीं। परिपाडल कविता-संग्रह में संगृहीत ७० कविताओं में से तिरुमाल से सम्बन्धित ८ कही गई हैं। परन्तु इस संग्रह की अब उपलब्ध होने वाली २२ कविताओं में से ७ में तिरुमाल (विष्णु) का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि संघ-काल में तिरुमाल-उपासना बहुत प्रचार को पा चुकी थी।

१. तमिळ् में वैष्णविज़्म—एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ८।
२. पुरम्, ५५-३-४। ३. वही, ५७-१-३।
४. वही, १७४-१५। ५. वही, १११-१।

प्रथम कविता में शेषशायी विष्णु का वर्णन है। इसमे कहा गया है कि आदि-शेष छत्र, आसन, शैया, प्रकाशयुक्त दीपक आदि के रूप में तिरुमाल की सेवा मे प्रस्तुत है। कवि का कहना है कि नीलवर्ण तन युक्त तिरुमाल के वक्षस्थल को शोभित करने वाली लक्ष्मी देवी, मानो सत्य और सुन्दरम् के समन्वय के रूप मे विराजमान है। इस कविता मे कवि ने तिरुमाल के विभिन्न आभूषणों की भी चर्चा की है। वे आभूषण क्या है, प्रकृति की नाना वस्तुएँ ही है। अग्नि से घिरा हुआ नीलवर्ण-पर्वत मानों तिरुमाल का पीताम्बर हो। कवि का कहना है कि वेद प्रणेता मुनिगण तथा ज्ञानवान् व्यक्ति भी विष्णु की महिमा के एक अंश को भी जान नही सके, तो हम अकिंचनो से उनकी सारी महिमा का वर्णन कैसे हो सकता है। आगे कवि कहता है कि उनकी महिमा का कुछ भी गायन करना चाहे, तो उसके लिए भी उसकी दया चाहिए।

परिपाडल में मिलने वाले तिरुमाल-सम्बन्धी विचार आगे के कवियो द्वारा अपनाये गए मालूम होते है। उनमे एक विचार यह है कि जो भगवान् कृपासिन्धु, करुणानिधान है, वह दुष्टों को दण्ड देने मे भी हिचकता नही है। दुष्टो का सन्मार्ग पर लाने के लिए वह उन्हे कष्ट देता है। भगवान् के इन दोनो गुणो की तुलना शीतल चाँदनी को देने वाले चन्द्र तथा ताप युक्त किरणों को भेजने वाले सूर्य से की गई है।

कवि ने विश्वोत्पत्ति के कारण ब्रह्मा और संहार-कारण शिव को भी तिरुमाल के अंश माने है। कवि का कहना है कि स्वर्ण-कान्ति-युक्त चक्र को अपने हस्त मे धारण करने वाले तिरुमाल ही इस विश्व के आदि-कारण हैं, परब्रह्म है। उनकी तुलना किसी से नही की जा सकती। उनके समान वे ही है। चूँकि इस निर्गुण परब्रह्म के विषय मे जानना मनुष्यों के लिए बहुत कठिन है, इसलिए भगवान् ने अपने शंख, चक्र संयुक्त सगुण-रूप के दर्शन भक्तों के लिए कराए हैं। अन्त मे तिरुमाल-भगवान् की स्तुति कर उसकी शरण मे जाने में ही भक्तो की भलाई बतायी गई है।[1]

परिपाडल मे अवतारवाद की झाँकी मिल जाती है। एक कविता मे बलिराम अवतार का भी उल्लेख है। ज्ञात होता है कि संघकाल मे कन्नन (कृष्ण) की उपासना के समान बलराम की भी उपासना होती थी और उनके लिए अलग मन्दिर भी निर्मित हुए थे। एक अन्य कविता मे भी बलराम-वर्णन है। इस कविता के रचयिता कीरन्तैयार ने ब ।राम के अनुज के रूप में अवतरित विष्णु (कन्नन) का भी वर्णन किया है। पुराणों में विष्णु के चार व्यूहों का वर्णन आता है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। परिपाडल मे भी चार व्यूहो का उल्लेख मिलता है। इनमे "सेंकणकारी' कहकर वासुदेव व्यूह का, 'करुङ्कण वेल्लै' कहकर संकर्षण व्यूह का,

---

१. 'परिपाडल' के इन विचारों का प्रभाव आळवारो पर पड़ा है। आळवारो के विचारों के बीज भी इसमें देखने को मिलते हैं

काव्यो का समावेश है। यह प्रथम संग्रह की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना जाता है। इसमें संगृहीत-कविताओं का काल ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व पडता है।

इसमे 'पेरुनपाणाट्रुपडै' के रचयिता ने अपने आश्रयदाता को तिरुमाल वंशोत्पन्न कहा है।[1] इस कविता मे कवि ने काची नगर की प्राचीनता का वर्णन करते समय लिखा है कि काची उस तरह प्राचीन और महिमा युक्त है, जिस तरह ब्रह्मदेव को धारण करने वाला तिरुमाल की नाभि से उदित कमल। इस काची नगर के समीप तिरुवेहा मे शेषशायी तिरुमाल के एक मन्दिर होने का भी उल्लेख है।

'मुल्लै-पाट्टु' (अर्थात् 'वन-गीत') के रचयिता नप्पूदनार ने वामनावतार का स्मरण कर तिरुमाल की व्यापकता और श्यामलता की तुलना समुद्र-जल को ग्रहण कर उत्पन्न तथा ऊँचे आकाश में मँडराने वाले काले मेघो से की है। यह कविता मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता 'मायोन' अथवा 'तिरुमाल' की स्तुति कर प्रारम्भ होती है। महाबली से तीन चरण की भूमि माँगकर तीनो लोको को लाँघने वाले तिरुमाल की कथा उस समय बहुत ही लोकप्रिय रही होगी। अत "मदुरैकाची" मे 'ओण विषा' का वर्णन है। कहा गया है कि महाबली के गर्व का दमन करने वाले तिरुमाल की महिमा गाने के लिए मदुरै नगर मे 'ओण' उत्सव प्रतिवर्ष सात दिन तक बड़ी घूम-धाम से मनाया जाता था।

संघकाल का तीसरा काव्य-संग्रह 'पदिनेणकीळकणक्कु' है। वस्तुतः यह अठारह सूक्ति ग्रन्थों का सामूहिक नाम है। विश्वविख्यात महाकवि तिरुवल्ळुवर द्वारा रचित 'तिरुक्कुरळ' इनमें प्रमुख है। तिरुवल्ळुवर किस धर्म के अनुयायी थे, इसका निर्णय अभी तक नही किया जा सका है। इस ग्रन्थ मे जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव एवं ईसाई विद्वान् अपने-अपने धर्म के विचारों को पाकर यह प्रमाणित करने के निरन्तर प्रयत्न मे सदियो से लगे हुए है कि तिरुवल्ळुवर तत्तम् धर्मावलंबी थे और उन्ही के धार्मिक सिद्धान्त 'तिरुक्कुरळ' मे प्रतिपादित किये गए है। यद्यपि इस महान् कवि ने अपने इष्टदेव के रूप में विष्णु या तिरुमाल का नाम स्पष्ट रूप से नही लिया है, तो भी उनके भगवान् के श्रेष्ठ गुणो के अनेक वर्णन तिरुमाल को लक्ष्य करके ही किये गए मालूम पड़ते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक विचार इसमें मिल जाते हैं। दो स्थानों मे 'अडियळन्दान'[4] (लोक को नापने वाला) तथा 'तामरै कण्णन'[5] (कमल दल लोचन 'कण्णन') इन दो प्रयोगो से यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि अपने समय मे प्रचलित 'तिरुमाल' तत्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

'पदिनेणकीळकणक्कु' मे सम्मिलित 'तिरिकडुकम' नामक काव्य में तिरुमाल की अनेक लीलाओं मे से तीन चरण से समस्त विश्व को लाँघने, कुरुन्द पेड़ के रूप मे

---

१. पेरुनपाणाट्रुपडै, २९-३१।
२. वही, ४०३-४०५।
३. वही ३७१-३७२।
४. तिरुक्कुरळ दोहा ६१०
५. वही, ११०३

उपस्थित राक्षस को मारने, शकट तोड़ने आदि लीलाओं का वर्णन है। इसके रचयिता नल्लादनार थे। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण से विदित होता है कि वे वैष्णव थे।

'नान्मणिक्कडिगै' के रचयिता विळम्बिनागनार भी वैष्णव थे। उसमें मंगलाचरण के दो पद्य हैं जिनमें 'मायोन' अर्थात् 'कृष्ण' की स्तुति है। कवि का कहना है कि चन्द्र 'मायोन' के मुख के समान है। किरण युक्त सूर्य तिरुमाल के चक्र के समान है। सुन्दर कमल के दल उनके नयनों के समान हैं। 'पूवै' के नवीन पुष्प उनके शरीर के रंग के समान हैं।[1] इस प्रकार कवि ने उपमान को उपमेय से भी श्रेष्ठ बताया है (प्रतीप अलंकार)। मंगलाचरण के द्वितीय पद्य में 'कण्णन' (कृष्ण) की अन्य कुछ लीलाओं का उल्लेख है।

"इनियवै नार्पदु" के रचयिता पूदंचेंदनार थे। इन्होंने भी कृष्ण की अनेक लीलाओं का उल्लेख किया है। विद्वानों के अनुसार ये भी वैष्णव थे।

संघोत्तर काल (तीसरी और चौथी शताब्दी) में पाँच श्रेष्ठ काव्यों का निर्माण हुआ जो 'पंच महाकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे हैं – शिलप्पदिकारम्, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि, वळैयापति और कुण्डलकेशी। इन बृहद् काव्यों के अतिरिक्त इस काल में रचित पाँच लघु काव्य भी विख्यात हैं। वे हैं नीलकेशी, चूळामणि, यशोधर काव्यम्, नागकुमार काव्यम्, तथा उदयणन कदै। 'शिलप्पदिकारम्' (नूपुर-काव्य) के रचयिता इळंगो यद्यपि जैन मुनि थे, तो भी उन्होंने अपने समय के अन्य प्रसिद्ध लोकप्रिय धर्मों के, विशेष रूप से वैष्णव धर्म के विचारों का अच्छा परिचय दिया है। इस काव्य का नायक कोवलन अपनी धर्मपत्नी कण्णकी को मदुरै नगर के बाहर स्थित 'आयर' (ग्वाला) के ग्राम में छोड़ आता है। मदुरै में जब निरपराध कोवलन की हत्या होती है, तो आयरों के उस ग्राम में अपशकुन दीख पड़ते हैं। इस पर आयर ग्वालिनें अपने इष्टदेव कण्णन (कृष्ण) से अमंगल दूर करने के लिए प्रार्थना कर 'कुरवै' नामक नृत्य करती हैं। यह प्रसंग 'आयच्चियर कुरवै' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में ग्वालिनें गाती हैं :—"मेरु को मथानी और वासुकी सर्प को रस्सी बनाकर, हे कण्णन! उस दिन तुमने समुद्र का मंथन कर डाला था। मथने वाले वे ही हाथ (बाद में) यशोदा की मथानी की रस्सी से बाँधे गये। हे [illegible], हे [illegible]! यह तुम्हारी कैसी माया है?" 'कुरवै कूत्तु' की कथा उस समय के तमिळ-समाज में सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा मालूम पड़ती है, जिसमें कण्णन (कृष्ण) ने बलराम और नप्पिन्नै ('राधा' का तमिळ नाम) के साथ 'कुरवै' नामक नृत्य किया था। कवि ने इस प्रसङ्ग के वर्णन में ग्वालिनों के मुख से 'कुरवै' नृत्य करते समय कण्णन की विभिन्न बाल-लीलाओं का गायन कराया है।

---

1 [illegible] Vol. III Issue 4 "तिरुमाल भक्तिमार्ग" लेख
—श्री पी० वी आचार्य

'शिलप्पधिकारम्' से ज्ञात होता है कि उस समय तिरुवेंकटम्, तिरुप्पति, तिरुमालिरु'चोलै आदि स्थानों में 'तिरुमाल' के मन्दिर वर्तमान थे और इन मन्दिरों में तिरुमाल की उपासना-प्रणाली भी थी। काविरिपूपट्टिनम मे स्थित मन्दिरो की सूची देते समय कवि बलराम और कन्नन (कृष्ण) के अलग-अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख करता है।[1] इस काव्य के अन्त मे एक जगह कहा गया है कि राजा चेरन चेंगुट्टुवन वीर-पत्नी कण्णकी की प्रतिमा बनाने के निमित्त शिला लेने के लिये हिमगिरि गए। जाते समय 'आडकमाडकम' नामक स्थान में स्थित विष्णु-मन्दिर के उन्होंने दर्शन किए।

पचबृहद-काव्यो में दूसरा महान् काव्य है—'मणिमेखलै'। इसके रचयिता शीत्तलै चात्तनार (मस्तक-व्रणी चातनार) थे। इस ग्रन्थ के प्रणयन से उनका उद्देश्य यद्यपि बौद्ध-धर्म के विचारों का प्रतिपादन ही था, तो भी उन्होंने वैष्णव धर्म के श्रेष्ठ विचारो की ओर भी प्रसंगवश संकेत किया है। इस काव्य मे कन्नन (कृष्ण) की अनेक कथाओ का भी वर्णन आता है। कन्नन द्वारा नप्पिन्नै तथा बलराम सहित किये गए कुरवै नृत्य का भी उल्लेख कवि ने किया है।[2]

'चूळामणि' नामक जैन-काव्य मे उसके कथा-नायक से सम्बन्धित कुछ कथाएँ 'कन्नन' से सम्बन्धित कथाओ से मिलती-जुलती हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि चूँकि इस काल में तिरुमाल धर्म अधिक प्रचार को पा रहा था और जनता ने तिरुमाल के विभिन्न अवतारों की कथाओं को बड़े चाव से स्वीकार किया था, इसलिए इस काल के जैन-बौद्ध-काव्य में भी उन कथाओ का रूपान्तर से समावेश यत्र-तत्र हुआ है।

तिरुमाल के कन्नन (कृष्ण) अवतार की भाँति राम-अवतार की कथाएँ भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थीं। इसके प्रमाण संघ-साहित्य मे मिल जाते है। यद्यपि तमिळ मे सम्पूर्ण 'रामायण' की कथा को लेकर महाकाव्य रचने वाले 'कवि चक्रवर्ती' के नाम से प्रसिद्ध कम्बन (११वी शती) थे तो भी कुछ विद्वानो का मत है कि उससे पूर्व (कदाचित् संघकाल मे ही) 'वेण्बा' छन्द मे निर्मित एक रामायण-काव्य भी विद्यमान था।[3] प्रोफेसर एस० वैयापुरि पिल्लै का कथन है—"बहुत ही प्राचीन काल में इन रामायण-कथाओं का प्रचार समस्त तमिळ-प्रदेश मे हो चुका था। 'पुरनानूरु' तथा 'अहनानूरु' नामक संघकालीन कृतियों मे, जिनकी रचना ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुई थी, रामायण की कथाओं का उल्लेख है। इसके पश्चात् 'वेण्बा छन्द' से रचित एक सम्पूर्ण रामायण का भी प्रणयन हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तिरुमाल' के रामावतार की कथाएँ बहुत प्राचीन काल से ही तमिळ जनता

---

१. शिलप्पधिकारम्, १७१-१७२।
२ मणिमेखलै १६, ६५ ९६
३ [illegible]'—स्वामी चिदम्बरनार, पृ० २०

उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह है कि संघ-काल में ही (ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अथवा उससे कुछ पूर्व ही तमिळ-प्रदेश में तिरुमाल (विष्णु) के विभिन्न अवतारों की कथाएँ प्रचार पा चुकी थी, साथ ही संघ-साहित्य में हमें आळवार-साहित्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि देखने को मिल जाती है।

मन्दिरों में 'तिरुमाल' की उपासना

तमिळ-प्रदेश के मन्दिरों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है।[1] इन मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियाँ रहती थीं और निश्चित प्रणाली के अनुसार उनकी उपासना भी होती थी। यद्यपि प्रारम्भ में तिरुमाल मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता के रूप में ही माने गये थे, तो भी संघ-काल में उनका प्रभाव अन्य भू-भागों पर भी पड़ा। इनके मन्दिरों में तिरुवरंगम्, तिरुपति, तिरुमालिरुंचोलै, तिरुवेह्का आदि स्थानों में स्थित तिरुमाल-मन्दिरों का उल्लेख संघ-साहित्य में कई जगह मिलता है।[2]

तिरुवरंगम (श्रीरंगम्) के मन्दिर के अर्चावतार तिरुमाल का वर्णन "शिलप्पधिकारम्" में इस प्रकार मिलता है - "शेषनाग पर शयन करने वाले नील-वर्ण युक्त तिरुमाल स्वर्ण-पर्वत को आच्छादित करने वाले नील मेघों के समान हैं।"[3] इस रचना में तिरुवेंकट के मन्दिर में विराजमान अर्चावतार तिरुमाल का वर्णन इस प्रकार मिलता है "इस मन्दिर के तिरुमाल के कर-कमल भय उत्पन्न करने वाले चक्र तथा धवल रंगीन शंख को धारण किये हुए हैं।"[4]

"परिपाडल" में तिरुमालिरुंचोलै के मन्दिर में विराजमान कमल-दल-लोचन और श्याम-वर्ण-देहधारी उस तिरुमाल के अर्चावतार-रूप का वर्णन मिलता है, जो मानव-मात्र के दुःखों का हरण करता है।[5] "पेरुम्पाणाट्रुप्पडै" नामक रचना में काँचीपुरम् के समीप तिरुवेह्का नामक स्थान में स्थित तिरुमाल-मन्दिर का उल्लेख मिलता है।[6] ऐसा ज्ञात होता है कि संघकाल में बलराम और नप्पिन्नै सहित "कण्णन" के विग्रह की पूजा होती थी। इस प्रकार के मन्दिर पुकार और मदुरै में थे।[7] उनको "नेल्लनगर कोट्टम" कहते थे। "परिपाडल" की पन्द्रहवी कविता से ज्ञात होता है कि बलराम सहित "कण्णन" की मूर्तियाँ सेवित थीं। "कण्णन" और बलराम को एक साथ मानने की परिपाटी में बाद में परिवर्तन आ गया और केवल कण्णन की मूर्तियाँ सेवित होने लगी।

---

1. "Origin of South Indian Temple" - Dr Venkitarammaya.
२. आळवार भक्तों ने इन विभिन्न तिरुमाल-मन्दिरों में विराजमान "तिरुमाल" के "अर्चावतार" रूपों का वर्णन अपने काव्य में किया है।
३. शिलप्पधिकारम्, २, ३५-४०। ४. वही, २, ४१-४५।
५. परिपाडल १५। ६. पेरुम्पाणाट्रुप्पडै, ३७१ ३७४।
७. ५ १७१ १७२

संघकाल के उत्तरार्द्ध (संघोत्तर-काल में भी) में तमिळ प्रदेश के मन्दिरों में संस्कृत आगमों द्वारा निर्धारित विधियों के अनुसार उपासना होने लगी थी। "शिलप्पधिकारम्" और "परिपाडल" से ज्ञात होता है कि उन मन्दिरों में पांचरात्र और वैखानस आगमों की विधियों के अनुसार पूजादि होती थी। तिरुमाल मन्दिर के प्रांगण में गरुड़-स्तम्भ में गरुड़ांकित ध्वज शोभित था। "मणिमेखलै" में एक स्थान में "कडल्वण्णन् पुराणम्" का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान हो सकता है कि "कडल्वण्णन् पुराणम्" का उल्लेख "विष्णु-पुराण" के लिए ही हुआ है और "विष्णु-पुराण" उस समय विद्यमान था। "परिपाडल" के विभिन्न स्थलों में स्थल तिरुमाल-मन्दिरों तथा उनमें वर्तमान तिरुमाल के अर्चावतार रूपों का वर्णन मिलता है। इनमें तिरुमाल के किसी न किसी अवतार की कल्पना अवश्य की।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि यद्यपि आरम्भ में तमिळ-भूमि में मायोन या तिरुमाल की कल्पना मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता के रूप में पृथक् से थी तो भी संघकाल में उत्तर से आने वाली वैदिक-भक्ति परम्परा से प्रभावित होकर, तिरुमाल-धर्म तमिळ-प्रदेश में बहुत अधिक प्रचार को पाने लगा। तिरुमाल के अनेकानेक मन्दिर उस काल में तमिळ-प्रदेश के नाना भागों में निर्मित थे जिनमें तिरुमाल की उपासना होती थी। संघ साहित्य इसके प्रमाण प्रस्तुत करता है कि तिरुमाल से सम्बन्धित तमिळ लोक-मानस में उत्पन्न कथाएँ वैदिक-परम्परा-प्रसूत विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथाओं में मिलकर जनता को आकर्षित करने लगी थीं। इस प्रकार संघ-काल में तिरुमाल-धर्म (वैष्णव धर्म) तमिळ-प्रदेश में एक प्रधान धर्म हो चला था।

गोपालकृष्ण और राधा के विकास में तमिळ की देन

महाभारत में कृष्ण एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ अथवा योद्धा के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं। वे पाण्डवों का सन्धि-सन्देश ले जाने वाले शान्ति-दूत हैं। उनके ज्ञान, विज्ञान और प्रखर बुद्धि की प्रभा से समस्त लोक आलोकित है। महाभारत में श्रीकृष्ण के शौर्य-वीर्य का पूर्ण निदर्शन है। महाभारत की समाप्ति पर वे कुशल नियोजक के रूप में राजसूय यज्ञ में लगे दिखाई पड़ते हैं। अन्त में हमारे सामने उनका वह रूप ही आता है जो एक दूरदर्शितापूर्ण विचारक का माना जाता है। उनकी महत्ता के दो कारण बताये गये हैं : (१) सभा पर्व में कहा गया है कि वे अपने प्रखर ज्ञान और श्रेष्ठतम बल के कारण ही अनन्य गौरव के पात्र हैं, (२) गीता में कर्मयोग की प्रधानता की स्थापना करने वाले एक कर्मनिष्ठ व्यक्ति और उपदेशक के रूप में ही कृष्ण दीख पड़ते हैं।

पहले हम बता चुके (वैदिक-भक्ति-परम्परा का परिचय देते समय) हैं कि जब सात्वतों में वासुदेव की पूजा प्रधान हो गयी तो महाभारत के युग में वासुदेव और नारायण को एक ही समझा जाने लगा। यहाँ तक आकर वासुदेव कृष्ण, विष्णु और

नारायण एक हो चुके थे। पर उस समय तक गोपलकृष्ण का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के किसी देवता का नाम न तो महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में आता है और न पातजल महाभाष्य में।

परन्तु श्रीमद्भागवत जैसे बाद के ग्रन्थो में कृष्ण का जो रूप विशेष रूप से मिलता है, वह गोपाल कृष्ण का है। परवर्ती साहित्य में मिलने वाला बाल-कृष्ण-रूप महाभारत के कूटनीतिज्ञ और गीता के उपदेशक कृष्ण के रूप से बिलकुल भिन्न है। श्रीमद्भागवत के आधार पर परवर्ती साहित्य-ग्रन्थो मे कृष्ण का रूप, प्रेमाभक्ति के आलम्बन के रूप में एवं गोप-गोपियो के सर्वस्व राधा-वल्लभ, नटनागर एवं गोपाल कृष्ण ही अधिक ग्राह्य हुए। आश्चर्य की बात है कि महाभारत के उपदेशक कृष्ण श्रीमद्भागवत में गोपाल कृष्ण के रूप में कितने भिन्न जान पड़ते है ?

डा० भाण्डारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी तक के किसी भी भागवत धर्म सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं है और न उनका कोई परिचय ही उपलब्ध होता है। इसके विरुद्ध ईसा के अनन्तर आने वाली शताब्दियो की ऐसी सामग्रियाँ गोपाल कृष्ण की अनेक कथाओं से भरी पड़ी हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दोनों समयो के बीच में कोई न कोई नवीन बात अवश्य हुई होगी।

ईसा के पूर्व के किसी संस्कृत-ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण का वर्णन न मिलना और ईसा के पश्चात् के ग्रन्थो मे गोपाल कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से विवरण प्राप्त होना विद्वानो के बीच अनेक भ्रान्तियों एवं कल्पनाओ को जन्म देता आया है। पाश्चात्य विद्वान् जो हर चीज का सम्बन्ध योरुप से मानने वाले हैं, बालकृष्ण की लीला सम्बन्धी कथाओं को ईसा मसीह की जीवन-कथा से प्रभावित मान बैठे हैं। डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण भाग में आबाद हो गया था। इन ईसाइयो की भक्ति-भावना का पूरा-पूरा प्रभाव हिन्दुओ पर पड़ा और क्राइस्ट से क्रिस्टो और फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया। वैष्णवों की दास्य भक्ति, प्रसाद, पूतना-स्तन्य पान आदि को ग्रियर्सन महोदय ईसाइयत की देन बताते हैं। उनका कहना है कि पूतना बाइबिल की 'वर्जिन' है। प्रसाद लवफीस्ट है---इत्यादि। इस प्रकार वे ईसा के पश्चात् बालकृष्ण की कथाओं का जन्म सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[1] वेबर[2] और केनडी[3] का भी कथन है कि बालकृष्ण की कथा ईसा मसीह की कथा का भारतीय रूप है।

१. "जे० आर० ए० एस०" (१९०७ ई०) में "हिन्दुओं पर नेश्टोरियन ईसाइयों का ऋण" शीर्षक लेख।
२. "इण्डियन एण्टीक्वेरी" (जिल्द ३-४) मे 'कृष्ण जन्माष्टमी' वाला लेख।
३ "जे० आर० ए० एस०" (१९०७ ई०) मे 'कृष्ण ईसाइयत और गूजर' लेख।

कुछ भारतीय विद्वान् 'गोपाल कृष्ण' के रूप का अस्तित्व प्रारम्भ से सिद्ध करने के उद्देश्य से केवल 'गोपाल' शब्द का आधार लेकर गोपाल कृष्ण को प्राचीन ग्रन्थों में ढूँढ़ते हैं और यह बताने की चेष्टा करते हैं कि गोपाल कृष्ण का रूप पहले से ही बीज रूप में विद्यमान था। वे कृष्ण के 'गोविन्द' नाम का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से जोड़ते हैं। 'गोविन्द' एक पुराना नाम है और उसका उल्लेख श्रीमद्भागवत और महाभारत—दोनों में हुआ है। परन्तु महाभारत में 'गोविन्द' शब्द का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से नहीं लगाया गया है। आदि पर्व में गोविन्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि भगवान् का नाम 'गोविन्द' इसलिए है कि उन्होंने 'वाराहावतार' में 'गो' अर्थात् पृथ्वी की रक्षा की थी। शान्ति-पर्व में भी इसी प्रकार की व्याख्या की गई है। डा० भाण्डारकर ने गोविन्द की उत्पत्ति गोविद से बताई है, जो ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में हमें ऐसे मंत्र[1] अवश्य मिलते हैं जिनमें गो, वृष्णि, राधा, व्रज, गोप, रोहिणी और अर्जुन आदि नाम आये हैं। परन्तु गोपाल कृष्ण से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[2]

बालकृष्ण के आविर्भाव के विषय में भाण्डारकर आदि कुछ विद्वानों का मत है कि बालकृष्ण की कथा सीरिया से चलकर आयी हुई घुमक्कड़ आभीर जाति के बाल-देवता की कथा है। आभीरों के बाल-देवता श्रीकृष्ण की कथा का सबसे पुराना उल्लेख हरिवंश पुराण में पाया जाता है। भाण्डारकर ने इस ग्रन्थ का काल तीसरी शताब्दी के अनन्तर माना है; क्योंकि उसमें 'दीनार' शब्द (रोमन-Denarious) का उल्लेख है।[3] भाण्डारकर के अनुसार आभीर ही सम्भवतः बाल-देवता की जन्म कथा और पूजा अपने साथ ले आये। कुछ कथाएँ तो उनके द्वारा लायी गयी थीं और कुछ उनके भारत आने के बाद विकसित हुईं। भाण्डारकर आगे लिखते हैं कि यह सम्भव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी ले आये हों और सम्भवतः यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बाल-देवता के एकीकरण का कारण हुआ हो।

महाभारत के "मौसल पर्व" अध्याय ७ में आभीरों के सम्बन्ध में एक कथा आती है जिसके अनुसार अर्जुन वृष्णि वंश के समाप्त हो जाने पर उस वंश की स्त्रियों को जब द्वारका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे, तो आभीरों ने उनके ऊपर आक्रमण कर

---

१. (अ) ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै । यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ —ऋग्वेद १।१५४।
(ब) दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठन् ।—ऋग्वेद १।३२।११
(स) समेतदाधार पयः कृष्णासु रोहिणीषु । —ऋग्वेद ८।९३।१३
२. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० १२५
3. *Vaishnavism, Saivism and other Minor Religious Sects.* Dr R G Bhandarkar, p 37

दिया। आभीर लुटेरे और म्लेच्छ बताये गये हैं जो पंचनद देश में रहते थे। विष्णु-पुराण में आभीरों को कोकण और सौराष्ट्र के निवासी बताया गया है। पहले तो आभीर चरवाहे थे, फिर वे पंजाब से मथुरा, सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक फैल गये। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वान् अनेक ऐतिहासिक प्रमाणो के द्वारा अब यह सिद्ध कर चुके हैं कि आभीर जाति कहीं बाहर से नही आयी थी और ईसा के पूर्व भी वह जाति भारतवर्ष में विद्यमान थी। गोपाल कृष्ण तथा बालकृष्ण वाली कथाओं का समावेश वासुदेव के साथ इन आभीरो द्वारा किया गया।

परन्तु प्रस्तुत लेखक को गोपाल कृष्ण की कथाओं की उत्पत्ति के विषय में वस्तुस्थिति ऊपर दिये गये विद्वानों के विभिन्न अनुमानो से भिन्न मालूम पडती है। तमिळ साहित्य के संघपूर्व काल की रचना तोलकाप्पियम (ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी) और संघ-काल की रचनाओं मे (ईसा की दूसरी शताब्दी तक) तमिळ-प्रदेश के पाँच भिन्न भू-भागो और उनके अधिदेवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। मुल्लै-प्रदेश (वन-भूमि) में गोचारन के व्यवसाय में संलग्न 'आयर' कहलाने वाले ग्वाला लोग रहते थे और उनके देवता 'मायोन' थे। संघ-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये 'मायोन' 'आयर' लोगों के बाल-देवता थे। उस समय इस बाल-देवता से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएँ जनता के बीच मे प्रचलित थी, जिनका वर्णन संघ-साहित्य में मिलता है। यह भी ज्ञात होता है कि उस समय 'आयर' कहलाने वाले लोग अपने बाल-देवता की लीला वाली कथाओं का अभिनय नाटकादि में करते थे। 'आयर' लोगों के बीच मे ऐसे अनेक नृत्यों की परिपाटी थी, जो उनके अनुसार उनके बाल-देवताओ ने अपने बाल्य-जीवन में किये थे।

हम ऊपर कह आये हैं कि ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व ही आर्यों का दक्षिण में अर्थात् प्राचीन तमिळ-प्रदेश मे आगमन हुआ। महाभारत द्वारा प्रचारित भागवत धर्म का भी दक्षिण की ओर गमन हुआ। नासिक में प्राप्त 'नानाघाट' के शिलालेख से स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व ही भागवत धर्म दक्षिण मे पहुचा। कृष्णा जिळे के 'वाइना' नामक शिलालेख से भी यही प्रकट होता है।[1] अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा के पूर्व तथा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों मे तमिळ-प्रदेश में वैदिक संस्कृति से भिन्न एक तमिळ-संस्कृति विद्यमान थी और उनका समाज काफी सभ्य था। ईसा-पूर्व की शताब्दियो मे उत्तर से आने वाली वैदिक संस्कृति और तमिळ-प्रदेश की द्राविड़ संस्कृतियों में मिलन हुआ। उत्तर से आने वाले अपने साथ वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और गीता के विचारों को लेते आये। (स्मरण रहे कि उनके वासुदेव-कृष्ण में बालकृष्ण का रूप नहीं था।) यह मान्य बात है कि जब दो संस्कृतियों में मिलन होता है तब बहुत-सी बातो मे समन्वय और आदान-प्रदान होना

1. *Early History of the Vaishnava Sect.* —Hemachandra Ray Choudhuri, p 108

स्वाभाविक है। परिणामस्वरूप तमिळ-प्रदेश के (वैदिक परम्परा से भिन्न) देवताओं और अनेक वैदिक देवताओं में एकीकरण हो गया। तमिळ-प्रदेश के मायोन, मुरुगन, कोट्रवै, शिवन आदि देवताओं को वैदिक देवताओं से मिला लिया गया। मुल्लै-प्रदेश के देवता 'मायोन (जो बाल-देवता थे) का वैदिक देवता विष्णु से बहुत कुछ साम्य था। इसलिए मायोन और विष्णु-कृष्ण का एकीकरण संभव और स्वाभाविक था। यहाँ पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उत्तर से आने वाले लोगों के देवता, महाभारत और गीता के वासुदेव कृष्ण का ही जिसमें गोपाल-कृष्ण का अंश नहीं था तमिळ-प्रदेश के 'मायोन' (बाल-देवता) से हुआ। दूसरे शब्दों में तमिळ प्रदेश के 'आयर' कहलाने वाले ग्वाला लोगों के इष्टदेवता 'मायोन' का एकीकरण 'महाभारत' के कृष्ण से हुआ; क्योंकि दोनों में अनेक बातों में साम्य था।

यह कहा जा चुका है कि मुल्लै-प्रदेश में 'आयर' लोगों के बीच 'मायोन' के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित थीं। महाभारत के कृष्ण का 'आयर' लोगों के बाल-देवता से एकीकरण होने पर 'मायोन' की बाल लीला सम्बन्धी बहुत सी कथाएँ महाभारत के कृष्ण की कथाओं में मिल गयीं, और इसी प्रकार महाभारत के कृष्ण की कथाएँ 'मायोन' की कथाओं में मिल गयीं।[1] इस घटना के पश्चात् की तमिळ-रचनाओं में 'मायोन' के विषय में महाभारत आदि की कथाओं का प्रचुर मात्रा में प्राप्त होना भी उक्त स्थिति की पुष्टि करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों संस्कृतियों के मिलन के बाद ही वर्तमान कृष्ण के रूप की स्थापना हुई। ऐसा लगता है कि वर्तमान कृष्ण के जीवन का उत्तरार्द्ध महाभारत के कृष्ण का है, और पूर्वार्द्ध बहुत अंश में तमिळ के देवता 'मायोन' का है।[2] दोनों संस्कृतियों के सम्मिलन के फलस्वरूप दोनों के देवताओं में होने वाले एकीकरण से तमिळ के 'मायोन' में महाभारत के वासुदेव कृष्ण का अंश आ मिला और महाभारत के कृष्ण के साथ 'मायोन' का बाल-रूप जुड़ गया। तमिळ-साहित्य में 'मायोन' के स्थान पर ईसा के पश्चात् की कृतियों में 'कण्णन' शब्द का प्रयोग होना भी इसी स्थिति को पुष्ट करता

---

१ प्रसिद्ध तमिळ विद्वान् एम० राघव अय्यंगार का मत है कि आज तमिळ-प्रदेश में प्रचलित महाभारत और भागवत की कथाएँ स्पष्ट रूप से बहुत बाद की हैं। तमिळ-भूमि में उत्पन्न कण्णन-कथाएँ जिनका विवरण प्राचीन तमिळ-साहित्य में मिलता है, तमिळ-प्रदेश में आज प्रचलित महाभारत और भागवत की कृष्ण-कथाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं—"आराय्च्चि तोकुति"।

—एम० राघव अय्यंगार, पृ० ५५।

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी कथन है कि "यह बात सर्वसम्मत है कि कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है।"

—सूर साहित्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ११ सं० ११२६।

है। प्रस्तुत लेखक का विचार है कि 'कन्नन' शब्द तमिळ में 'कृष्ण' (कन्हैया) से आया होगा। कृष्ण का रंग श्याम वर्ण बताया गया है। तमिळ का 'मायोन' शब्द काले अथवा नीले रंग को सूचित करता है।[1] आर्य लोग तमिळों (द्रविड़ो) को काले रंग वाले कहते थे। अतः तमिळो के देवता 'मायोन' के रग को कृष्ण द्वारा अपनाना भी कृष्ण-मायोन के एकीकरण को पुष्ट करता है।[2]

लेखक की समझ में विद्वानों ने 'आभीर' जाति का जो उल्लेख किया है, वास्तव में वह तमिळ-प्रदेश की 'आयर' जाति थी। 'आयर' ग्वाले होते थे। पुराणो मे उन्हीं को 'आभीर' कहा गया है। आज 'अहीर' शब्द 'आभीर' शब्द के ही बिगडे हुए रूप में मिलता है। 'अहीर' शब्द ग्वालो के लिए ही प्रयुक्त होता है। कौतूहल का विषय है कि 'आयर' शब्द आज भी ग्वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है। तमिळ मे 'आ' का अर्थ है 'गाय'। यह साम्य भी ध्यान देने योग्य है।

कृष्ण के बाल-जीवन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाओ की जन्म-भूमि तमिळ-प्रदेश है। कृष्ण की बाल-लीलाओ से सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाएँ जो ईसा के अनन्तर के संस्कृत ग्रन्थो में मिलती हैं वे पहले से ही तमिळ प्रदेश मे प्रचलित थी, भले ही वे कुछ भिन्न रूप में हो। ऐसी कथाएँ भी कृष्ण के सम्बन्ध मे आज भी तमिळ-प्रदेश में प्रचलित है जो संस्कृत-साहित्य मे कहीं भी देखने को नहीं मिलती। (उनका विवरण आगे दिया जायगा।)

राधा का विकास

सस्कृत साहित्य मे गोपाल कृष्ण की प्रधान प्रेयसी राधा का वर्णन बहुत बाद मे मिलता है। महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्म पुराण, विष्णु पुराण आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थो मे राधा का उल्लेख नही है। भास के नाटको मे जहाँ कृष्ण की चर्चा है, वहाँ राधा का नाम नही आता। सभी प्राचीन ग्रन्थो मे कृष्ण की प्रेम लीलाओ का वर्णन है, गोपियों का वर्णन है, परन्तु राधा का कहीं उल्लेख नही है। सबसे पहले

---

१. यह भी द्रष्टव्य है :—

"डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु, भारत में आकर द्राविड़ों के एक आकाश-देव से मिल गये जिनका रंग द्राविड़ों के अनुसार आकाश के ही सदृश नीला अथवा श्याम था। तमिळ भाषा में आकाश को 'विन्' भी कहते हैं जिसका 'विष्णु' शब्द से निकट सम्बन्ध हो सकता है।"

--संस्कृति के चार अध्याय . श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ० ६०

२. "आर्यों ने द्राविड़ों से ही कृष्ण (कन्नन) सम्बन्धी कथाओं का परिचय प्राप्त किया होगा।"

—Dr. S. Vidhyanandan : "*Tamilar Sabbu*", p. 128 (Ceylon University, 1954)

हाल की गाहा सतसई में राधा का उल्लेख मिलता है। हाल (सातवाहन) ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करता था और उसने अपने समय में सामान्य लोक में प्रचलित प्राकृत गाथाओं का संकलन कराया था। ये गाथाएँ, गोप गोपियों की प्रेम-लीलाओं पर लिखी गई थीं। परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि गाथाओं का वर्तमान रूप छठी शताब्दी का है, और राधा का नाम इनमें छठी शताब्दी में आया। वैसे चौथी शताब्दी और उसके पश्चात् कुछ शिलालेखों में कृष्णलीला के अंकन मिलते हैं, जिनमें एक विशेष गोपी को कृष्ण के साथ उत्कीर्ण किया गया है। मन्दसौर के प्रसिद्ध स्तम्भों में भी यह अंकन मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि पाँचवीं शताब्दी के लगभग राधा का स्वरूप निर्धारित हो गया था और कृष्ण-लीला में राधा को पूरा महत्व दिया जाने लगा था। ८ वीं सदी में 'वेणी संहार' नाटक (भट्ट नारायण कृत) लिखा गया। उसमें प्रारम्भ के नान्दी पाठ में राधा का प्रथम बार कृष्ण की प्रियतमा के रूप में निश्चित रूप से उल्लेख मिलता है।

भागवत पुराण में कृष्ण की एक विशिष्ट गोपी की चर्चा है।[1] किन्तु उस गोपी का नाम राधा है, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी एक विशेष गोपी का महत्व बढ़ रहा था, लेकिन उसका नाम राधा बाद में पड़ा। परवर्ती संस्कृत साहित्य में तो राधा का प्रचुर उल्लेख है। और उसके बाद तो जयदेव, और जयदेव के बाद विद्यापति, चण्डीदास और सूरदास का काव्य राधापरक है ही।

राधा के आविर्भाव के विषय में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"जिस प्रकार वासुदेव और द्वारकावासी कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे जो बढ़कर परम दैवत के आसन पर पहुँचे हैं, राधा में इस प्रकार के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का कोई सबूत नहीं पाया जाता। गोपियों में तो यह है ही नहीं, फिर मजे की बात यह है भागवत, हरिवंश पुराण और विष्णु पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थ जो गोपाल-कृष्ण की कथाओं के उत्स हैं, उनमें भी राधा का नामोल्लेख नहीं पाया जाता।......यह भी देखा जाता है कि राधा की भक्ति का नया स्वरूप दक्षिण से आता है। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर दो तरह के अनुमान किये जा सकते हैं - (१) राधा आभीर जाति की प्रेम-देवी रही होगी, जिसका सम्बन्ध बाल-कृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में केवल बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा। इसलिए आर्य ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है। पीछे से जब बालकृष्ण की प्रधानता हो गई होगी तो इस बालक-देवता की सारी बातें अहीरों से ली गई होंगी। इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी। (२) दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि राधा इसी देश की किसी आर्य-पूर्व जाति की प्रेम-देवी रही होगी। बाद में आर्यों में

---

१. अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ १०.३०.२८।

इनकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्ण के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा।"[1]

प्राचीन तमिळ साहित्य मे उपलब्ध 'मायोन' अथवा 'कन्नन्' (कृष्ण) से सम्बन्धित कथाओं को देखने से पता चलेगा कि डा० साहब का उपर्युक्त अनुमान सत्य की कोटि में आता है। तमिळ मे 'मायोन' से सम्बन्धित कथाओं मे 'कन्नन' (कृष्ण) के साथ उसकी प्रधान प्रेमिका 'नप्पिन्नै' का भी वैसा वर्णन मिलता है जैसा बाद के संस्कृत-साहित्य में कृष्ण और राधा का। तमिळ मे जहाँ कही भी 'कन्नन' का वर्णन मिलता है, वहाँ अवश्य नप्पिन्नै का उल्लेख मिलता है। उनकी प्रेम-लीलाओं की कथाएँ प्रारम्भ से ही जनता के बीच मे प्रचलित थी। जब दो संस्कृतियों मे (वैदिक और तमिळ) सम्मिलन हुआ और 'मायोन' की बाल-लीलाओ के वासुदेव-कृष्ण के साथ मिलने पर गोपाल कृष्ण का रूप स्थिर हुआ, तब 'मायोन' की प्रेमिका 'नप्पिन्नै' और उन दोनों की प्रेम-क्रीडाओ का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक स्त्री की कल्पना हुई होगी और उसका नाम बाद में 'राधा' पड़ा होगा। कृष्ण और राधा की जो प्रेम लीलाओं की कथाएँ बाद के संस्कृत ग्रन्थो में मिलती हैं, वही कन्नन और 'नप्पिन्नै' की कथाओ के रूप में प्राचीन तमिळ साहित्य में और बाद में आळ्वार-साहित्य में मिलती हैं। केवल व्यक्तियो के नाम मे अन्तर है। व्यक्तित्व बहुत कुछ समान है। कुछ लोग 'राधा' शब्द को लेकर राधा का अस्तित्व वेद तक मे ढूँढते हैं और अनेक कल्पनाएँ कर बैठे हैं।[2] नाम से व्यक्तित्व का विकास ही अधिक महत्व-पूर्ण है। जहाँ तक 'राधा' के व्यक्तित्व से सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि राधा के विकास में तमिळ के 'मायोन' अथवा 'कन्नन' की प्रियतमा "नप्पिन्नै" का सम्बन्ध अवश्य था। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूँकि तमिळ मे 'राधा' शब्द नहीं मिलता, इसलिए राधा का सम्बन्ध "नप्पिन्नै" से कैसे बैठ सकता है ? इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि जिस प्रकार तमिळ में कृष्ण के लिए अन्य शब्द आज

---

१ सूर साहित्य (संशोधित संस्करण)—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६-१७

२ कुछ लोगों की धारणा है कि 'आराधिता:' शब्द से राधा की उत्पत्ति हुई। जो आराधना करती है, वही राधा है। बृहद् संहिता में 'राधा' शब्द की उत्पत्ति इसी प्रकार दी गयी है (बृहद् संहिता, द्वितीय पद, अ० ४१, श्लोक, पृ० १७४)। ऋग्वेद में 'राधा' शब्द धन को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद १।१५६।५)। अथर्ववेद (३०।७) में जहाँ 'राधो विशाखे' आता है, वहाँ 'राधा' शब्द अमरकोश के अनुसार नक्षत्र को सूचित करता है।

व्यक्ति के नाम के रूप में 'राधा' शब्द का प्रयोग बाद में ही मिलता है सोमदेव कृत 'यशस्तिलका' (७, २६) की धनकीर्ति वाली कथा मे 'राधा' नाम से एक स्त्री आती है। ६ वीं शताब्दी के पूर्व की प्रसिद्ध महायान-पुस्तक 'ललित विस्तार' में 'राधा' नाम से एक स्त्री का उल्लेख है।

आदि का परिवर्तित चित्र इनमें मिल जाता है। गोपाल कृष्ण और राधा की लीलाओ से सम्बन्धित जो कथाएँ इनमें हैं, उनका स्रोत ई० पू० अथवा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे तमिळ समाज में प्रचलित कथाओं में दीख पड़ता है, जिसके प्रमाण उस समय के तमिळ-साहित्य में मिलते हैं। 'कन्नन' और 'नप्पिन्नै' (कृष्ण और राधा) से सम्बन्धित ऐसी कथाएँ भी आज तमिळ-प्रदेश मे प्रचलित हैं जो पुराणो में नही मिलतीं। (इनका विवरण आगे दिया जायगा)

राधा-कृष्ण सम्बन्धी कथाओं की जन्म-भूमि दक्षिण (तमिळ प्रदेश) को मानने का एक और प्रमाण यह है कि इन कथाओ का भी समावेश दक्षिण मे उपलब्ध महाभारत के संस्करणो तक में मिल जाता है।[1] श्रीमद्भागवत जिसको विद्वान् समस्त हिन्दी-कृष्ण-काव्य का आधार-स्तम्भ मानते हैं, अनेक विद्वानो के अनुसार ८-९ वी शताब्दी के बाद की रचना है।[2] इसमे वर्णित गोपाल कृष्ण की कथाएँ तमिळ समाज में प्रचलित कन्नन सम्बन्धी कथाओ से बहुत मिलती-जुलती है। अनेक विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत की रचना दक्षिण मे हुई थी। विद्वानो का मत है कि श्रीमद्-भागवत की रचना दक्षिण के मलाबार-प्रदेश (तमिळ नाडु का पश्चिम भाग) में हुई थी, क्योंकि उसमें वर्णित वृक्ष, पुष्प आदि वृन्दावन मे नहीं मिलते, बल्कि मलाबार मे मिलते हैं।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे जो कथाएँ तमिळ-लोक मे प्रचलित थी, वे ही कथाएँ कुछ परिवर्तन के साथ पुराणो मे देखने को मिलती हैं। बाद में वैष्णव-सम्प्रदायों के आचार्यो ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुकूल इन पुराणों मे घटा-बढ़ी की और उनमे वर्णित बातो की पृथक्-पृथक् व्याख्या की।

प्रस्तुत लेखक, गोपाल कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व के विकास मे तमिळ की देन के आधार के रूप में प्राचीन तमिळ साहित्य मे मिलने वाले जिन विवरणों तथा कथाओं को मानने के लिए बाध्य होता है, उनमे प्रमुख कुछ का परिचय नीचे दिया जाता है :—

प्राचीन तमिळ साहित्य में "मायोन" (कन्नन) के विषय में इस प्रकार का वर्णन मिलता है—"मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता "मायोन" का रग "श्याम" है।[4] वह आयर कहलाने वाले ग्वालों का अधिपति था। उसकी सम्पत्ति गोधन थी। वह

1. The Southern recension of the Mahabharata contains many interpolations......". —Dr. R. G. Bhandarkar : *Vaishnavism, Saivism, etc.*, (foot note), p. 50.
2. "Among the puranas, the Bhagawata was composed some where in South India about the beginning of the 10th Century."
—Prof. K. A. Nilakanta Sastri : *History of South India* (2nd Edition), p. 332
३. (अ) हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
(आ) सूर और उनका साहित्य डा० हरवंशलाल शर्मा पृ० १८०।
४ मुल्लैपाट्टु १०–११

वन-भूमि में गायों को चराने जाता था और वह गीत गाया करता था। और "कुळल" (बाँसुरी) बजाता था। तमिळ की वनभूमि में बाँस की कमी नहीं थी, अतः उससे अच्छी बाँसुरियाँ बनायी जाती थीं। वह बाँसुरी बजाकर न केवल पशुओं को ही आकर्षित करता था, बल्कि ग्वालिनों को भी। प्रेम-क्रीड़ाओं के लिए वन-भूमि में बहुत सुविधाएँ होती थीं। क्योंकि इस प्रदेश के वासी केवल गोचारण करते थे और उनके पास इन क्रीड़ाओं के लिए अवकाश था। "मायोन" की रुचि गीत के साथ नृत्यों में भी थी। वह ग्वाल-ग्वालिनों के साथ नृत्य भी रचता था।

कण्णन की पत्नियों में 'नप्पिन्नै' का तमिळ कृतियों में विशेष उल्लेख है। वह कण्णन की प्रधान प्रेमिका थी और "आयर" कुलोत्पन्ना थी। उसे कुछ कृतियों में "पिन्नै" अथवा नीळा कहा गया है। बाद के ग्रन्थों में जहाँ कण्णन को विष्णु का अवतार माना जाता है, वहाँ नप्पिन्नै को लक्ष्मी का अवतार माना जाता है। कण्णन ने नप्पिन्नै को तत्कालीन तमिळ प्रथा के आधार पर प्राप्त किया था। इस प्रथा के अनुसार पहले कुमारी कन्याएँ अपनी इच्छा से और युवकों को पति के रूप में, स्वयं वरण करती थीं। इसे "एरुतळुवल" अथवा 'वृष वशीकरण' कहते हैं।[1] यह वीरता की परीक्षा के लिए प्रथा थी। एक घेरे के अन्दर कुछ बलवान् साँडों को बन्द कर दिया जाता था। फिर बाजे बजाकर तथा दूसरे उपायों से उन्हें भड़काया जाता था। फिर साँडों को क्षिप्रता से बाहर छोड़ दिया जाता था। बाहर में वीर युवक रहते थे। उनका काम था, अपने बाहुबल से साँडों को वश में लाना। जो इस काम को पूरा कर लेते थे, वे वीर समझे जाते थे और उन्हीं के गले में कुमारियाँ जयमाला डालकर अपने लिए वर चुन लेती थीं। प्राचीन तमिळ कृतियों में और बाद के आळ्वार-साहित्य में अनेक स्थलों में इस कथा का वर्णन है कि बलवान् भुजाओं के बल पर श्रीकृष्ण (कण्णन) ने सात वृषभों को वश में कर कन्या-शुल्क के रूप में गोप-बाला नप्पिन्नै को प्रिया के रूप में प्राप्त किया था।[2]

---

१. यह प्रथा आज भी तमिळ-प्रदेश के गाँवों में किसी अंश में प्रचलित बतायी जाती है—"It seemed in a way a test for a man to be fit husband for a lady. The rearing of bulls and letting them loose with some prize for the captor have become a regular social and popular amusement which persists even to this day in the Tamil Districts." —V. R. R. Dikshitar : "*Indian Culture*", Vol. IV, pp. 270—271.

२. भागवत पुराण में ऐसा ही प्रसंग आया है कि कोसल देश के राजा नग्नजित् ने अपनी कन्या नाग्नजिती का विवाह सात गो-वृषों को वश में करने वाले के साथ निश्चय किया था। कृष्ण ने वैसा ही करके नाग्नजिती के साथ विवाह किया। देखो—तस्यसत्याभवत् कन्या देवी नाग्नजितीनृप।
नताशेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्तगोवृषान्॥
पुराण, १० । ५८ । ३२-३३

प्राचीन तमिळ-साहित्य में ऐसे अनेक नृत्यों का वर्णन मिलता है जो कन्नन और नप्पिन्नै द्वारा किये गये बताए गए हैं। कन्नन और नप्पिन्नै की लीलाओं मे उनके नृत्यो का उल्लेख है। संघ-साहित्य से मालूम होता है कि ये कथाएँ तत्कालीन समाज मे बहुत प्रचलित थीं और उनका अभिनय 'बाल-चरित' नाटक के रूप मे होता था।[1] 'शिलप्पधिकारम्' के 'आयर्चियर कुरवै' प्रसंग मे इसी प्रकार के नृत्यों का वर्णन है, जिनका अभिनय 'आयर कुल' में होता था। इन नृत्यो में प्रमुख 'कुरवै कूत्तू' है। 'शिलप्पधिकारम्' मे 'कुरवै कूत्तू' के सम्बन्ध मे कहा गया है कि सात नौ-ग्वालिने एक दूसरे का हाथ पकड़ कर नाचती थीं।[२] उनके अनुसार विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए उनके इष्ट देवता कन्नन से प्रार्थना करते समय उस नृत्य का करना आवश्यक था। उनके बीच यह प्रसिद्ध था कि कन्नन ने एक बार अपने अग्रज बलराम और प्रेयसी नप्पिन्नै को लेकर यह नाच नाचा था 'मणिमेखलै' में भी इस 'कुरवै कूत्तू' का उल्लेख है।—(मणिमेखलै, १६, ६५-६६)

कन्नन से सम्बन्धित एक दूसरे नृत्य का नाम 'कुट कूत्तू' है जिसमे 'आयर-कुल' के नर-नारी भाग लेते थे। यह कशल को सिर पर रखकर किया जाने वाला नृत्य है यह नृत्य बहुत प्रचलित था।[3] 'शिलप्पधिकारम्' मे कन्नन द्वारा किये ११ प्रकार के नृत्यों का विवरण मिलता है। कहा गया है कि 'कुटकूत्तू' का नृत्य कन्नन ने अनिरुद्ध को कैद करने वाले बाणासुर का वधकर लौट आते समय सोनगर (सोनितपुर) की गली में किया था। कन्नन (कृष्ण) से सम्बन्धित दो और नृत्य—'अल्लीवाडल' और 'मल्लाडल' हैं। 'मणिमेखलै' में कन्नन द्वारा किये गये "पेडु" नामक नृत्य का भी वर्णन है।—(मणिमेखलै ३, १२३-१२२)

कहने का तात्पर्य यह है कि कन्नन से सम्बन्धित तथा कन्नन-नप्पिन्नै (कृष्ण-राधा) की प्रेम-लीलाओं से सम्बन्धित कथाएँ प्रचुर मात्रा मे प्राचीन तमिळ-कृतियो मे में मिलती हैं जिनका समावेश बाद में आळवार भक्तो की रचनाओं में भी हुआ है।

1. "*Sentamil*" —M. Raghawa Iyengar., Vol. 8, pp. 171-172.
२. इसका साम्य भागवत पुराण (१०, ३३) मे वर्णित रास-लीला से हो जाता है। हरवंश पुराण (२, ९८) में भी रास लीला का वर्णन है। डा० बनिकान्त काकती ने अपने ग्रन्थ "विष्णुएट मंथ्स एण्ड लेजण्ड्स" (पृ० ४१ से ६५) में रास-लीला की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि अनेक स्थानीय (Local Customs) प्रथाओं का मिलित रूप ही रास-लीला में मिलता है। रास-लीला की उत्पत्ति के लिए सहायक जिन प्रथाओं का डा० काकती ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, वे सभी प्रथाएँ प्राचीन तमिळ-समाज में प्रचलित थीं। अतः प्राचीन तमिळ-साहित्य में कन्नन तथा ग्वालिनो के नृत्य इत्यादि का जो विवरण मिलता है उसका रासलीला से सम्बन्ध सिद्ध होता है
3 *Tamil* *e and History*—V R R Dikshitar, p 293

भक्ति-आन्दोलन का उदय और तमिळ-प्रदेश की तत्कालीन परिस्थितियाँ

तमिळ साहित्य के इतिहास में सामान्यतया छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल भक्ति-काल के नाम से प्रसिद्ध है। इसी काल में ही प्रसिद्ध वैष्णव-भक्त-कवि आळ्वार और शैव भक्त कवि नायन्मार हुए थे। इस काल में तमिळ में जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह मुख्यतः भक्ति-साहित्य है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस युग में भक्ति-विषय को छोड़कर और कोई विषय कवियों के लिए रह ही नहीं गया था। भारत की विभिन्न आधुनिक भाषाओं के साहित्यों के इतिहासों को देखने से पता चलेगा कि तमिळ को छोड़कर किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में दसवीं शताब्दी के पूर्व भक्ति-साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था। अधिकांश भारतीय भाषाओं में तो पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग ही भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ है। तमिळ साहित्य के विषय में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का साहित्य भक्ति-भावना से परिपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि नवीं शताब्दी के पश्चात् तमिळ में भक्ति साहित्य का सृजन ही नहीं हुआ था। वैसे तो तमिळ में भक्ति की धारा आरम्भ से ही बही है और नवीं शताब्दी के उपरान्त भी भक्ति-प्रधान ग्रन्थों का सर्जन हुआ और यही क्रम आज भी चल रहा है। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल को भक्ति काव्य कहने का अर्थ यही है कि इस काल के साहित्य में भक्ति-भाव को जो प्रमुख स्थान मिला—वह बाद के साहित्य में प्रमुख नहीं रहा, बल्कि गौण रहा।

यह तो मान्य बात है कि किसी भी युग का सम्बन्ध उसके पूर्व युग से अवश्य होता है क्योंकि उस युग की प्रवृत्तियों की मूल प्रेरणा उसके पूर्ववर्ती युग में ही मिलती है। तमिळ प्रदेश में छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में जो भक्ति-आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष रूप में दीख पड़ता है, उसके बीज तो छठी शताब्दी के पहिले ही मिल जाते हैं। संघकाल (ईसा से दो शताब्दी पूर्व से ईसा की दूसरी शताब्दी तक) की कृतियों का परिचय देते समय यह दिखाया जा चुका है कि तमिळ-प्रदेश में धार्मिक-भावना का उदय पहले से ही हो चुका था और विभिन्न धर्म (विभिन्न देवताओं को लेकर) पनप रहे थे। तिरुमाल (विष्णु) और शिव की पूजा विशेष रूप से होती थी और अन्य देवताओं की पूजा भी होती थी। परन्तु इस साहित्य में कहीं भी यह देखने को नहीं मिलता कि अपने धर्म या देवता को महत्व देने और उसका प्रचार करने की दृष्टि से कवि ने एक पक्ष को लेकर अपने विचारों को प्रकट किया हो। इस समय का कवि उच्च और व्यापक धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देता है। जहाँ वह अपने इष्ट देवता का वर्णन करता है, वहाँ अपने प्रदेश (तमिळ-प्रदेश) के अन्य देवताओं के विषय में भी कहना नहीं भूलता। इस युग के कवि के लिए काव्य के सच्चे विषय दो ही थे—प्रेम और वीरता। कवि ने जन-मनोरञ्जनार्थ ही काव्य का सर्जन किया और उसने कहीं-कहीं प्रसंगवश धर्म का नाम लिया है। उसकी दृष्टि में

धर्म के नाम पर किसी विशेष प्रयोजन के लिए काव्य की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु ईसा की तीसरी, चौथी और पाँचवीं शताब्दी में बात कुछ दूसरी थी। तमिळ-साहित्य के इतिहास में इस काल को संघोत्तर काल कहा जाता है। संघ-काल की समाप्ति दूसरी शताब्दी तक माननी चाहिए। इसके पश्चात् तमिळ मे जो साहित्य मिलता है, वह प्राय जैन और बौद्ध मुनियो द्वारा रचित है। अतः इस भक्ति पूर्व-काल को संघोत्तर काल अथवा बौद्ध-जैन-काल कहा जाता है। इस काल मे जैनो और बौद्धो ने अनेक महाकाव्यों की रचना की। प्रारम्भ में तो उनका उद्देश्य केवल साहित्य-सर्जन ही रहा। परन्तु धीरे-धीरे धर्म-प्रचार का उद्देश्य प्रबल होता गया तो उन्होंने धार्मिक प्रचारार्थ ही साहित्य का सर्जन करना शुरू कर दिया। और भक्तिकाल के आरम्भ मे तो शैव और वैष्णव-धर्मों का खण्डन मात्र उनका उद्देश्य रहा।

वैसे तो जैनो और बौद्धो का आगमन तमिळ-प्रदेश मे इस काल से पहले ही हो चुका था। ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में बौद्ध और जैन मत तमिळ-नाडु में फैल चुके थे। जैन-पाठावलियो में प्राप्त इतिवृत्त के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में जैनों मे आपस मे फूट हुई और जैनो के दो दल हो गये। एक दल, जिन्हें दिगम्बर कहा जाता था, के नेता भद्रबाहु थे। भद्रबाहु पहले मगध मे रहे। लेकिन जब वहाँ १२ वर्ष का अकाल हुआ तो वे मगध को छोड़कर दक्षिण की ओर आये और आखिर श्रवणबेलगोला (मैसूर) में आकर रहने लगे।[1] संघ-साहित्य मे जैनो के तमिळ-प्रदेश में बस जाने के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण है। 'मणिमेखलै' में अनेक विहारों का वर्णन मिलने से पता चलता है कि उससे पूर्व ही बौद्ध-जैन मतो का प्रचार शुरू हो चुका था।

सम्राट् अशोक के समय मे दक्षिण में बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेष रूप से हुआ। प्रारम्भ में तमिळ-प्रदेश में बौद्ध-धर्म का कुछ विरोध हुआ, ऐसा दीख पड़ता है। ईस्वी पूर्व २०६ के बाद अशोक ने अनेक प्रचारकों को बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ सुदूर दक्षिण में भेजा।[2] पहले बौद्ध-भिक्षुओं ने तमिळ प्रदेश मे ताम्रपर्णी नदी के किनारे 'कोर्कै' नामक स्थान में अपने मत का प्रचार जोर से किया। बौद्ध-धर्म का प्रचार तमिळ-प्रदेश के इतिहास मे विकास-स्तम्भ (Mile-stone) माना जाना चाहिए।[3] अशोक के शिलालेखों मे तमिळ के चेर, चोल और पांड्य राजाओ का उल्लेख मिलता है।[4] उत्तर मे शक्तिशाली राज्य होने के कारण, उसके प्रभाव से दक्षिण में बौद्ध और जैन मतो का प्रचार होने लगा। बौद्धो और जैनो ने अनेक विहारों की स्थापना तमिळ-प्रदेश में की और अपने सिद्धान्तों का प्रचार साधारण जनता के बीच में शुरू

1. *Some Contributions of South India to Indian Culture.*
—Dr. S. Krishnaswamy Iyengar, p. 234.
2. *The Pegent of Indian History.*—Sen, p 1.
3 *Oxford History of India* V A Smith, p 75
4 *Tamil Nad through Ages* A. M Para anandam, p 37

किया। तमिळ राजा धार्मिक मामलों में काफी उदार थे और उन्होंने सभी धर्मों को समान रूप से बढ़ने की सुविधा दी थी। बौद्ध और जैन प्रचारक संस्कृत के बड़े विद्वान् थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों का संस्कृत और पाली में प्रणयन किया। उन्होंने एक और महत्वपूर्ण बात यह की कि साधारण जनता को, जो तमिळ भाषा बोलती थी, आकर्षित करने के लिए तमिळ भाषा में साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दी।[1] उन्होंने बड़े परिश्रम से तमिळ भाषा की पूर्व साहित्यिक परम्पराओं को सीखा और कुछ ही समय में तमिळ-साहित्य पर उनका आधिपत्य हो गया। उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण उनके द्वारा हुआ, परन्तु उनके मूल में भी अपने-अपने विचारों का प्रचार ही था। फिर भी यह कहना असत्य होगा कि उनके द्वारा रचे साहित्य में साहित्य-सौष्ठव की कमी थी। संघकाल की फुटकर रचनाओं की अपेक्षा उनके द्वारा महाकाव्यों की रचना मुख्य रूप से हुई। इन कवियों के ग्रन्थ मुख्यतया नीति-प्रधान हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं की कथा के साथ अपने धार्मिक विचारों, विश्वासों, नियमों, रूढ़ियों आदि का अच्छा सन्निवेश किया है, जिनकी सहायता से उस समय के सामाजिक और धार्मिक जीवन का भी अच्छा ज्ञान होता है। इनमें यथा-तथा कुछ कवियों ने रामायण, महाभारत आदि के कुछ छोटे मोटे पात्रों का भी प्रयोग किया परन्तु इन्होंने सभी वैदिक महाकाव्यों की कथावस्तुओं को मूल रूप में न लेकर अपने धर्म के अनुकूल ही बना लिया।

बौद्धों की अपेक्षा जैनों का ही अधिक प्रभाव तमिळ-साहित्य और संस्कृति पर पड़ा। तमिळनाडु के सांस्कृतिक विकास में जैनों का योग महत्वपूर्ण है।[2] कहा जाता है कि वज्रनन्दी की अध्यक्षता में ईस्वी सन् ४७० में मदुरै में 'द्रमिल संघ' के नाम से एक संस्था की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य तमिळ में साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन देना था।[3] जैन मतावलंबियों ने तमिळनाडु में जगह-जगह में विहारों और मूर्तियों का निर्माण करके वास्तु-शिल्प और मूर्ति-कला की उन्नति में योग दिया। संस्कृत और प्राकृत के अनेक ग्रन्थों के विषयों का तमिळ-प्रतिरूप जैन कवियों ने प्रस्तुत किया। इनके द्वारा संस्कृत और प्राकृत के शब्द भी तमिळ में आ गये। जैन-मत के प्रधान तत्वों

1. "The Jains more than any other Sect have their writings and especially in their exceptionally comprehensive narrative literature, never addressed themselves exclusively to the learned classes, but made an appeal to the other strata of the people also."—*History of Indian Literature*; Winternitz, Vol. II, p. 475.
2. "They have played a notable part in the civilization of South India, where early literary development of the Kanarese and Tamil languages was due in a great measure to the labours of the Jain-Monks."—*Ancient India*; Prof. E. J. Rapson, p. 66.
3. *Administration and Social Life under the Pallavas.* Dr Meenakshi, p. 221

का भी जनता में प्रचार हुआ। धीरे-धीरे जैनों ने राज्याश्रय को भी प्राप्त कर लिया।

तमिळ-प्रदेश में ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक पल्लव-वंशीय राजाओं का शासन हुआ। इन पल्लव राजाओ के शासन-काल को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। **प्रारम्भिक काल** (२५०-३४०) के पल्लव राजाओं का विवरण प्राकृत-शिलालेखों में मिलता है। **मध्यकाल** (३४०-५७५) के पल्लवों का विवरण संस्कृत मे लिखे शिलालेखों से उपलब्ध होता है। **अन्तिम काल** (५७५-६००) के पल्लव राजाओं का विवरण ग्रन्थ-लिपि और तमिळ-लिपि मे लिखे शिलालेखो से प्राप्त होता है। जिसे तमिळ साहित्य के इतिहास मे **भक्तिकाल** कहा जाता है, वह पूर्णत: पल्लव-राजाओ के अन्तिम काल मे पडता है। वास्तव मे यही काल ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसी काल मे तमिळ-प्रदेश ने जिस भक्ति-आन्दोलन के दर्शन किये थे, उसमें उन पल्लव-राजाओं का भी बड़ा हाथ था। उस काल के पल्लव-वंशीय राजाओ का प्रमुख केन्द्र कांचीपुरम था।[1] मध्यकाल के पल्लव तो संस्कृत के प्रेमी थे, इसलिए उस काल में उनके द्वारा तमिळ को विशेष आश्रय नहीं मिला। लेकिन अंतिम काल के पल्लव शासक तामिळ में साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन देते रहे। जैन मतावलम्बियो ने प्रारम्भ में अनेक पल्लव राजाओं को प्रभावित किया और राज्याश्रय प्राप्त किया। जब उनको राज्याश्रय प्राप्त हुआ था, वे धर्म-प्रचार में तीव्रता दिखाने लगे और अत्याचार का काड भी यहीं से प्रारम्भ हुआ।

भक्ति-आन्दोलन की आवश्यकता

तमिळ जनता ने जो धार्मिक मामलों में स्वभाव से ही उदार थी, प्रारम्भ मे इन बौद्ध-जैन धर्मों का विरोध नहीं किया। इन धर्मों के विचारों में कुछ ऐसी बाते भी थीं जिन्होंने तमिळ जनता को आकर्षित किया। इनके उदात्त भावों का जनता ने स्वागत किया। जैनों और बौद्धों ने प्रारम्भ में अनेक विहारो की स्थापना कर जन-हितार्थ कई कार्य किये। साधारण जनता जिसको समाज में विशेष महत्व प्राप्त नही था, इन मतावलम्बियों का आश्रय पाकर प्रसन्न हुई। कुछ लोग जो अनवरत लड़ाइयो से थक चुके थे, वे इन विहारों में जाकर शान्ति पाने लगे। यहाँ तक कि प्रसिद्ध चेर राजा सेंगट्टुवन के अनुज इळङ्गु अडिकळ बौद्ध बनकर विहार में रहने लगे। तमिळ-बौद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए चीन और जावा भी गये थे।[2] 'मणिमेखलै' और 'शिलप्पधिकारम्' के रचना-काल में बौद्धों को समाज मे आदर प्राप्त था। परन्तु बौद्धों ने इसका दुरुपयोग किया। आगे चलकर बौद्ध मतावलम्बियो ने समस्त तमिळ जनता को बौद्ध धर्म में लाने की चेष्टा की और पर-धर्मों का खण्डन भी शुरू कर दिया।

---

१. देखिए विस्तृत विवरण के लिए—"*The Pallavas of Kanchi,*"
—K Gopalan (Madras Universiry).

2. "Deve opment of Tamil Religious Thought
—Swami Vipulananda '*Tamil Culture* (1956), pp 251 266

कालान्तर में उनमें दुराचार ने प्रवेश कर लिया। बौद्ध-धर्म में ब्रह्मचर्य और भिक्षु-जीवन पर बहुत जोर दिया गया था। तमिळ जनता के लिए जो परम्परा से गार्हस्थ्य-जीवन के उच्च आदर्शों को लेती आयी थी, बौद्धों का यह भिक्षु-जीवन, अपनी परम्परा के विरुद्ध था। मठों के अप्राकृतिक जीवन में बहुत सी बुराइयाँ बहुत भारी परिमाण में घुस आयीं। बौद्ध-धर्म में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं था। बौद्ध धर्मावलम्बी परवर्ती काल में अपने सिद्धान्त-पक्ष पर अधिक जोर देने लगे। अतः उनके विचार तमिळ-जनता के परम्परागत धार्मिक विश्वास और भक्ति भाव के विरुद्ध सिद्ध हुए।

जैनों ने राज्याश्रय पाकर अनेक मंदिरों का निर्माण किया। इन मंदिरों में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ रहती थीं। तमिळनाडु में अनेक स्थानों में इनके मन्दिरों की स्थापना हुई और बहुत अधिक मात्रा में तमिळ साहित्य-सर्जन कर अपने धार्मिक विचारों का प्रचार किया। साहित्य रचना में धर्म प्रचार ही प्रधान उद्देश्य रहा। जैनों में दिगम्बर कहलाने वाले ही तमिळ-प्रदेश में अधिक थे। वे बिना वस्त्र पहने नग्न रहते थे। कभी स्नान नहीं करते थे और गन्दे रहते और कठिनानुष्ठान करते थे। इनका तन्त्र-मन्त्र में भी विश्वास था। कालान्तर में राज्याश्रय का दुरुपयोग कर इन लोगों ने दूसरे विरोधी धर्मों (शैवों और वैष्णवों) के सन्तों को कष्ट देना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि धर्म-परिवर्तन कराने के लिए अत्याचार का सहारा लेने लगे। यहाँ तक कि अपने विरोधियों की हत्या तक कर डालते थे। अहिंसा, करुणा आदि जो जैनधर्म के मूल तत्व थे, इन सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण में प्रवृत्त हो गए।

इसी युग में पाशुपत, कापालिक और कालामुख कहलाने वाले लोगों की धर्म-भावनाओं के प्रचार का परिचय भी मिलता है, जिनका भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तकों ने डटकर खण्डन किया है। वास्तव में ये लोग मूलतः तमिळ प्रदेश के नहीं थे। ये बाहर से आये थे और इनके आचरण बहुत ही विचित्र थे। पाशुपतों के भी विश्वास और आचार-विचार विचित्र प्रकार के थे। वे अपने को 'महेश्वर' कहते थे। वे शरीर पर भस्म लगाते थे। शिव को परब्रह्म मानते थे। लिंग अथवा शिव की मूर्ति की पूजा करते थे। कुछ लोग शरीर पर भस्म लगाकर नंगे घूमते थे। विरक्त जीवन बिताकर घोर तप के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में विश्वास रखते थे और उन्मत्त चेष्टा में रत रहते थे। इनमें कुछ 'शिवगण' कहलाने वाली आत्माओं में विश्वास रखते थे और उनको सन्तुष्ट करने के लिए नर-बलि तक देते थे और मृत मनुष्यों के मांस का नैवेद्य लगाते थे।[1] कापालिक कहलाने वाले भैरवों की पूजा करते थे। खोपड़ियों की माला बनाकर गले में डाले फिरते थे। नर-बलि और पशु-बलि की भी इनमें परिपाटी थी। बलि में दिये गये मांस और मधु का सेवन करते थे। स्त्रियों को 'आदि शक्ति' मानकर उनकी पूजा करते थे। इनमें शक्ति-पूजा की प्रथा थी। इनमें स्त्री कापालिक (कापालिनि) भी थीं। इस प्रकार के लोगों ने जनता के बीच भक्ति-भाव का नहीं, बल्कि भय का

1 *Gangas of Talakad* M. V. K. Rao, p 189

ही प्रदर्शन कराया। इन लोगों की खिल्ली उड़ाने के लिए ही महेन्द्र वर्म पल्लव प्रथम ने (६००-६३०) 'मत्त-विलास-प्रहसन' की रचना की। इस संस्कृत प्रहसन से तत्कालीन पतित धार्मिक स्थिति का चित्र प्राप्त हो जाता है। इसमे कापालिको और बौद्धों की हँसी उड़ायी गयी है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि महेन्द्र वर्म पल्लव प्रथम के समय तक बौद्धों और कापालिक कहलाने वालों का आचरण-पक्ष बहुत ही गिरा हुआ था। इस प्रहसन मे जैनो का उल्लेख न होना यह सूचित करता है कि महेन्द्र वर्म उस समय जैनों के पंजे में था। बाद में वह अप्पर नामक शैव-संत से प्रभावित होकर शैव बन गया।

अब यह भी देखने की आवश्यकता है कि भक्ति-काल के प्रारम्भ में शैव और वैष्णव धर्मों की क्या दशा थी। यह पहले कहा जा चुका है कि वैदिक धर्म का दक्षिण में प्रवेश ईसा की कुछ शताब्दियों के पूर्व ही हो गया था। द्राविड़ और वैदिक संस्कृतियों का मिलन हुआ, जिसके फलस्वरूप अनेक द्रविड़ (तमिळ) देवताओं का एकीकरण वैदिक देवताओ में हो गया। तमिळ तिरुमाल का विष्णु से एकीकरण हुआ और शिव का रुद्र से। पुराणों मे तमिळ देवता 'मुरुगन' को शिव का पुत्र बताया गया और 'कोट्रवै' को दुर्गा या पार्वती कहा गया। हम यह मान सकते हैं कि ईसा की चौथी शताब्दी के पहले ही यह एकीकरण पूरा हो चुका था। इस समय वेद और वेदांगों में प्रवीण ब्राह्मण लोगो का उत्तर से आगमन होता रहा और वैदिक विचारो का भी प्रचार हुआ। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ मे जब उत्तर में गुप्त वंशीय राजाओ का शासन हुआ तब वैदिक धर्म को पुनः आश्रय मिला। यह युग उत्तर भारत के इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है। उत्तर मे इस युग मे बौद्ध और जैन धर्म का लगभग ह्रास हो चुका था और शैव और वैष्णव संप्रदाय पनप रहे थे। महाभारत, रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थो का पुनः संपादन हुआ, षट् दर्शन व्यवस्थित हुए। पाँच-रात्र, शैवागम और तंत्र-साहित्य का सर्जन हुआ। इस समय उत्तर से वैदिक धर्मावलंबी ब्राह्मणों का तमिळ-प्रदेश में पहले की अपेक्षा अधिक सख्या में आगमन हुआ।[1]

हम यह ऊपर देख चुके हैं कि चौथी और पाँचवी शताब्दी मे तमिळ-प्रदेश में बौद्धो और जैनो का बोलबाला था। साधारण जनता पर उनका प्रभाव था। तमिळ साहित्य पर उनका आधिक्य था। वैदिक धर्मावलबी (दोनों सस्कृतियो के एकीकरण के पश्चात् भी) ब्राह्मण लोग "घटकाएँ" बनाकर अलग रहते थे, जहाँ वेद और उपनिषद् आदि के अध्ययन और यज्ञ इत्यादि में वे लगे रहते थे। साधारण जनता से उनका कोई भी संपर्क न था। काञ्चीपुरम् की 'घटिका' बहुत ही प्रसिद्ध थी। वहाँ वेद-वेदांगो का विशेष अध्ययन होता था। कहा जाता है कि कदम्ब वंश के संस्थापक मयूरसिंह

1. *The Coming of Brahmanism to the South of India.*
—A. Govindacharya, J. R. A. S., 1912.

काँचीपुरम् में संस्कृत अध्ययन के लिए आया था। इतिहासकारों के अनुसार उसका काल ३४५-३६० ई० है।[1] तालकुंडा दानपत्रों से पता चलता है कि मयूरसिंह जो पहले से वेदों का बड़ा ज्ञानी था, उच्च अध्ययन प्राप्त करने के लिए ही काँचीपुरम् आया था। अतः यह ज्ञात होता है कि इन 'घटिकाओं' में वैदिक साहित्य के अध्ययन और अध्यापन और यज्ञ इत्यादि का प्रबन्ध होता था। इन घटिकाओं का साधारणतः जन-केन्द्रों से अलग रहना यही सूचित करता है कि उनसे साधारण जनता का कोई सम्बन्ध नहीं था। यह भी ज्ञात होता है कि 'घटिकाओं' में केवल ब्राह्मणों का ही प्रवेश था और उनमें होने वाले यज्ञादि में भाग लेने का अधिकार ब्राह्मणेतर लोगों को नहीं था।[2] वेदादि में पारंगत लोगों को पुरोहित अथवा 'मरैयवर' कहा जाता था। बौद्ध-महाकाव्य 'सिलप्पधिकारम्' में कहा गया है कि उसके कथा नायक कोवलन और नायिका कण्णकी का विवाह वैदिक नियमों के अनुसार ही सम्पन्न हुआ था।[3] चूँकि वैदिक धर्मावलम्बियों ने अपने धर्म तथा वेद को केवल ब्राह्मण लोगों तक ही सीमित रखा, इसलिए साधारण जनता से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहा। यही कारण है कि साधारण जनता के बीच में ईसा की तीसरी और चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में बौद्ध और जैन धर्म पनप सके।

प्रारम्भ में तो बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि सभी मत आपस में बिना किसी संघर्ष के समानान्तर रूप से चलते रहे। किन्तु बाद में एक ओर बौद्धों और जैनों ने राज्याश्रय का दुरुपयोग कर शैव और वैष्णव धर्मों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। दूसरी ओर बौद्धों और जैनों ने जन-साधारण को अपने पंथ में रखा था और वैदिक धर्म का जन-साधारण से सम्बन्ध घटता गया। पाँचवीं और छठी शताब्दी तक आकर बौद्धों और जैनों का आचरण पक्ष जब गिरने लगा तो एक ऐसा वातावरण तमिळ-प्रदेश में उत्पन्न हुआ, जिसमें बौद्धों और जैनों के आचार-विचारों से तंग होने वाली जनता को एक ऐसा मार्ग दिखाने के लिए जिससे सब समान रूप से आत्म-शांति प्राप्त कर सकें और आचरण का पक्ष भी ऊँचा रह सके, और वैदिक धर्म को जो अब तक यज्ञादि कठिन नियमों को पकड़े आया है, सरल बनाकर मुक्ति के साधनों को सुलभ और सर्व-साधारण को प्राप्य बनाने के लिए हिन्दू धर्म में सुधारकों की आवश्यकता हुई। युग की इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए ही वैष्णव भक्त-कवि आळ्वार और शैव भक्ति-कवि नायन्मार अवतरित हुए। बौद्ध और जैन नास्तिक धर्मों की तुलना में उन्होंने भगवान् की सत्ता, उदारता और दयार्द्रता का प्रचार किया। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में इन वैष्णव आळ्वारों और शैव

1. *The Kadamba Kula.*—Mordas, p. 14.
2. *History of Tamil Language and Literature*—Prof. S. Vaiyapuri Pillai p. 100
3. T *through Ages*—A M iv m p 58

नायनमारों ने भक्ति की जो सरिता प्रवाहित की, उसकी तरल तरंगों में तमिळ-प्रदेश की समस्त जनता मज्जन और अवगाहन कर शांति प्राप्त कर सकी।

आळवार और नायनमार

वैष्णव आळवारों और शैव नायनमारों ने सबसे बड़ी बात यह की कि उन्होंने जनता की भाषा तमिळ के माध्यम से वेद इत्यादि का सार ग्रहण कर अपने विचारो को प्रकट किया और भक्ति को सुलभ बनाकर सर्व साधारण के लिए ग्राह्य बनाया।[1] इन वैष्णव और शैव भक्तो के विचार मे अनेक बातो मे समानता थी। इन दोनो का उद्देश्य मूलतः एक ही था। वह यह था कि नास्तिक विचारों का सामना करना और आस्तिक विचारो का प्रतिपादन कर जनता में वास्तविक भक्ति-भावना का जागरण कराना। इसके लिए दोनो ने तमिळ में ऐसे साहित्य का निर्माण किया जो उच्च कोटि की भक्तिभावना से ओत-प्रोत है। उन्होने अपनी भक्ति-प्रधान रचनाओ में संघकालीन तमिळ साहित्य की सभी साहित्यिक परम्पराओ को अपनाया। संघ-साहित्य के दो वर्ण्य विषय—प्रेम और युद्ध थे। साहित्यिक परम्पराओं को अपनाकर, अळवार और नायनमारो ने, संघ-साहित्य में जिस लौकिक प्रेम और उसकी दशाओ का विस्तृत वर्णन किया है, उसको अलौकिक प्रेम को (भगवान् और भक्त के बीच) प्रकट करने का माध्यम बनाया। प्रो० आर० एस० देशिकन् ने लिखा है :

"The bellicose and warring elemant in man cannot be effaced; nor can the instinct of love be wiped out. They must find a new out-let and have to be sublimated. With the Alvars and Nayanmars, the war without has become war within and human love has been transformed into divine."[२]

यही से मधुर भक्ति-धारा का उद्गम मानना चाहिए। इन आळवार और नायनमार

1. "The transformation of the ritualistic Brahmanism into the much more widely acceptable Hinduism of Modern times is due to the increasing element of the theistic element into the religious system of the day. In this new development South India played an important part. It probably borrowed the elements of Bhakti from the rising schools of Vaishnavism and Saivism in North and gave a realistic development by infusing into it features characteristic perhaps of Tamil-land and its literary development, making there by experience fall in line with life itself......Bhakti which transformed Brahmanism into Hinduism may therefore be regarded as an important contribution of South India."—*Some Contributions of South India to Indian Culture.* —Dr. S. Krishkaswamy Iyengar, (preface), pp. xiii-xiv.
2. "*Tamil Literature down the Ages*"—All India Writers Conference, , 1955, Souvenir pp 20-21

भक्तों के गीतों में हृदय की रागात्मिका वृत्ति से प्रेरित मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले भाव थे, जिसके प्रवाह में सारा समाज परिप्लावित हो गया।

आळ्वारों और नायनमारों ने तमिऴ भाषा के द्वारा ही अपने विचारों को जन-साधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। तमिऴ भाषा के प्रति दोनों का प्रेम अपार था। शैव कवि ज्ञान सम्बन्धर अपने को 'तमिऴ ज्ञान संबंधर' कहने में गौरव प्राप्त करते थे। इसी प्रकार कुलशेखराळ्वार ने अपने को 'महान् तमिऴन' कहा है। हृदय को द्रवित करने वाली भक्ति-भावना को प्रकट करने के लिए तमिऴ भाषा में पर्याप्त सुविधा थी। दोनों ने गेयपद शैली को अपनाया और वे जगह-जगह अपने गीतों को गाकर जनता को मंत्र-मुग्ध कर देते थे। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वस्तुतः वैष्णव और शैव-भक्तों के गीतों में विचार एवं भाव की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल विष्णु और शिव को पृथक्-पृथक् प्रधानता दी गई है। इतना अवश्य है कि आळ्वार भक्तों की पदावली में स्पष्ट रूप से अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए कहा गया है कि भक्तों का कष्ट दूर करने के लिए विष्णु को बार-बार अवतार ग्रहण करना पड़ता है। गीता में आया है :—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"[1]

आळ्वार इस वचन में विश्वास रखते थे। परन्तु शिव-भक्त इस प्रकार नहीं करते। (फिर भी बाद के शिव-भक्त शंकराचार्य को शिवजी के अवतार-रूप में मानने लगे।[2]) दोनों भक्तों ने भगवान् को प्रेम, स्नेह और करुणा की मूर्ति बताया। भगवान् से भय का नहीं, बल्कि प्रेम का सम्बन्ध स्थिर किया गया। कर्मकाण्ड को छोड़कर भगवान् के नाम-स्मरण मात्र से भगवदनुग्रह की प्राप्ति सम्भव बतायी। प्रपत्ति अथवा शरणागति तत्व पर जोर देकर दोनों ने भक्ति-मार्ग को सबके लिए सुलभ बनाया। भक्ति किसी जाति-विशेष की सम्पत्ति न होकर सब की सम्पत्ति है। इसमें स्त्री-पुरुष अथवा वर्ण-भेद का कोई स्थान नहीं। भगवान् के सम्मुख सब समान है।

जब आळ्वारों और नायनमारों ने अपने इन श्रेष्ठ विचारों का जनता में प्रचार किया तो जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों ने जिनको प्रारम्भ में राज्याश्रय प्राप्त था, शैव और वैष्णव संतों को कष्ट देना शुरू किया। कहा जाता है कि महेन्द्र वर्म पल्लव प्रथम ने जो पहले जैन था, शैव संत-कवि अप्पार को, जैनों के चंगुल में पड़कर बहुत सताया। परन्तु अप्पार ने जैनों के तंत्र-मंत्र तथा योग आदि को झूठा दिखाकर

१. गीता — अध्याय ४, श्लोक ७।
2. "*Devotional Literature in Tamil.*" (Dr. R. P. Sethu Pillai Commemoration Volume)—Dr V A pathy, pp 115-117

भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठ सिद्ध किया तो महेन्द्र वर्म जैन-धर्म को त्यागकर शैव-धर्म में आ गया। भक्ति काल के प्रारम्भ मे धर्म-परिवर्तन एक साधारण-सी बात थी। धीरे-धीरे जो राज्याश्रय पहले बौद्धो और जैनो को प्राप्त था, वह शैवों और वैष्णवो को प्राप्त होने लगा। यद्यपि इन आळवारो और नायनमारो का मूल उद्देश्य जनता में भक्ति-भाव को जगाना तथा नैतिक स्तर को ऊपर उठाना था, तो भी जब उन्हे अपने उद्देश्य मे जैनो और बौद्धो द्वारा बाधा पडते देखकर, उन्हे बौद्धों और जैनो का और उनके कुकृत्यों का भी खण्डन करना पड़ा। नायनमारो ने अपनी रचनाओं मे खुलकर बौद्धों और जैनों का खण्डन किया है और उनके निन्दनीय कार्यों की हँसी उडायी है। शैव सत ज्ञान सम्बन्धर ने तो अपने दर्शकों के हर दसवें पद में बौद्ध और जैनों का खण्डन किया है। उससे जैनो और बौद्धो की पतित स्थिति का परिचय मिलता है। दूसरे शैव सत सुन्दरर ने लिखा है : "बौद्ध और जैन अहिसा का प्रचार करके भी हिंसा के द्वारा ही धर्म-प्रचार करते हैं। तपस्या का बहाना करके वे अपनी जीभ के दास बने फिरते है। खा-खाकर सुस्त और तुन्दिल बन गये है।[1] जन-सेवा इनका लक्ष्य नही है। वे सर्वत्र अपने आहार की ही चिन्ता रखते है। वे अज्ञान मे पड़े हुए है। उनका मन काला है। जैन नग्न रहते है। गन्दे रहते हैं। जैन खड़े होकर खाते है। मास खाते रहने से उनके शरीर से बदबू आती रहती है।[2] (बौद्ध प्रारम्भ में पशु-वध के विरोध में थे। पर बाद मे मास खाने में उन्होने आपत्ति नहीं उठायी) वे शिव की निन्दा करते है जिसका फल उन्हे अवश्य भोगना पड़ेगा।"[3] आळवारो में प्रथम कुछ आळवारों ने जैन और बौद्धों का विशेष खण्डन नही किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय मे जैनों और बौद्धो ने उन्हे अधिक कष्ट नही पहुँचाया हो। परन्तु बाद मे आने वाले कुछ आळवारों ने जैनो और बौद्धो का खूब खण्डन किया है। तिरुमळिशै आळवार और तिरुमंगै आळवार ने तत्कालीन बौद्धो और जैनो के कुकृत्यो और दुर्बल विचारों की ओर संकेत किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि सातवी और आठवी शताब्दी में धार्मिक संघर्ष उग्र रूप को प्राप्त कर चुका था। शैवो और वैष्णवों ने मिलकर जैन और बौद्धों का बडा विरोध किया। उससे तमिळ-प्रदेश में जैन और बौद्ध धर्मों की नीव हिलने लगी और नवी शताब्दी तक आते-आते उन दोनो नास्तिक धर्मों की शक्ति क्षीण हो गयी। ह्वेनसाग नामक चीनी यात्री जो पल्लव नरसिंह वर्म के समय मे काञ्चीपुरम् में आया (ईस्वी सन् ६४० के आस-पास) था। उसने लिखा है कि कांचीपुरम् में बौद्ध विहारों के अतिरिक्त अनेक शिव मन्दिर भी थे। उसने यह भी लिखा है कि कितने बौद्ध विहार जीर्णावस्था मे थे।[4] अतः अनुमान किया जा सकता

१. तेवारम् ९० : ९—सुन्दरर।
२. वही ३३ : ९, ७१ : ९ आदि।
३. वही २२ : ९।
4 *Tamilnad through Ages* A M Paramas vanandam, p 70.

है कि सातवीं शताब्दी से ही बौद्ध और जैनों की शक्ति क्षीण होने लगी थी। शैव और वैष्णव धर्म जोर पकड़ते आ रहे थे। अन्त में बौद्ध और जैन धर्मों को तमिल-भूमि से पराजित होना पड़ा। इन्हें पराजित करने का पूरा पूरा श्रेय आळ्वारों और नायनमारों को देना चाहिए।[1]

भक्ति-काव्य के उत्कर्ष में शैव और वैष्णव धर्मों को अनेक राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ। अनेक राजाओं ने इन शैव और वैष्णव धर्मों को प्रोत्साहन देने के लिए अनेकानेक मन्दिरों के निर्माण कराए। महेन्द्र वर्मन पल्लव प्रथम ने शैव-धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् मन्दिर-निर्माण में अपना ध्यान दिया। उनके समय में विभिन्न कलाओं की भी उन्नति हुई। महेन्द्र वर्मन पल्लव को तमिल-प्रदेश के धार्मिक आन्दोलन के इतिहास में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके समय में गुहा-मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें पल्लवरम्, मामन्डूर, सियामंगलम आदि के मन्दिर मुख्य हैं। उन्होंने साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन दिया, जिस कारण आध्यात्मिक भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ। नृत्य, मूर्ति, सभी कलाओं की उन्नति इस समय हुई। कई दृष्टियों से महेन्द्रवर्मन का समय महत्त्वपूर्ण है। महेन्द्र वर्मन के पुत्र नरसिंह वर्मन के समय में भक्ति-आन्दोलन को और भी प्रोत्साहन मिला। उन्होंने अनेक गुहा-मन्दिरों का निर्माण कराया। मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) के प्रसिद्ध गुहा-मन्दिरों का निर्माण नरसिंह वर्मन के द्वारा ही हुआ, जो पल्लव-भवन-निर्माण-कला के सुन्दर चिह्न स्वरूप आज भी विद्यमान हैं।

अनेक पाण्ड्य राजाओं ने भी शैव-मन्दिर निर्मित किये। इस युग की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन्दिरों के निर्माण होने से और मन्दिरों में भगवान् के दर्शनार्थ भक्तों के आने से एक भक्तिमय वातावरण उत्पन्न हुआ। मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ उनसे सम्बन्ध रखने वाले धार्मिक उत्सवों का भी प्रबन्ध किया गया। इस युग में आळ्वारों और नायनमारों के भक्ति-रस-सिक्त गीतों को गाकर भक्त आत्म-विभोर हो जाते थे।[2] भक्ति की आवाज इस युग की सबसे ऊँची आवाज थी। अगर डा० ग्रियर्सन महोदय को इस युग के तमिल भक्ति-साहित्य का परिचय मिला होता तो

---

1. "The hymn singers of Tamil land were the creators of that powerful religious feeling which swept Buddhism and Jainism out of their country."—*Influence of Islam on Indian Culture* : Dr. Tarachand, p. 95.
2. "Large concourses of people went from place to place chanting their way, visiting temples old and newly built and offering worship. In front of the deity, they poured out their hearts in fervent recitation of songs composed by their leaders (Alvars and Nayanmars) and such joint recitation necessitated a kind of simple chorus music in which any one could join." —*History of Tamil Language and Literature* : Prof. S. Vaiyapuri Pillai, p. 102.

उत्तर भारत की भक्ति धारा के विषय में आश्चर्यचकित होकर उन्हे शायद ही यह कहना पड़ता—"कोई भी भक्ति जिसे पन्द्रहवी शताब्दी तथा बाद की शताब्दियो के साहित्य का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है, उस भारी व्यवधान (Gap) को लक्ष्य किये बिना नही रह सकता, जो प्राचीन और नूतन धार्मिक भावनाओ मे दृष्टि-गोचर होता है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी व्यापक और विशाल है, क्योंकि उसका प्रभाव आज भी विद्यमान है। इस युग मे धर्म ज्ञान का नहीं, अपितु भावावेश का विषय हो गया था।"

अपने युग को आलवारों की देन

तमिळ-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन मे वैष्णव आळवारो का जो महत्वपूर्ण योगदान है, उसे सभी विद्वान निर्विवाद रूप से मानते हैं। स्मरण रहे कि ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य ने वैष्णव भक्ति तथा भागवत-धर्म के प्रचार में महान् योग दिया। लेकिन उत्तर भारत के इतिहास के इस स्वर्ण युग के समाप्त होते ही, हर्षवर्द्धन जैसे प्रतापी उत्तर भारतीय सम्राटों द्वारा, भागवत धर्म, उपेक्षित होने के कारण निर्बल हो चला और क्रमशः निर्बल होता गया। परन्तु वैष्णव भक्ति के सूखते हुए वृक्ष को फिर से जीवन दान करके तमिळ-प्रदेश के आळवारो ने ही पनपाया। बाद मे उस विशाल वृक्ष की शीतल छाया में समस्त भारतवर्ष की वैष्णव जनता शांति पा सकी।

यद्यपि तमिळ-प्रदेश में भक्ति-आन्दोलन छठी शताब्दी से ही स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है, तो भी उसके पहले ही प्रथम तीन आळवार जन्म ले चुके थे। वैष्णव भक्ति की परम्परा जिसके दर्शन हम संघ-साहित्य में भी कर चुके हैं, तमिळ-प्रदेश में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों मे भी देखने को मिलती है। उस परम्परा में आने वाले थे ये आळवार भक्त। अतः यह कहना असंगत है कि आळवारों के पश्चात् ही तमिळ-प्रदेश मे वैष्णव भक्ति का उदय हुआ है। तमिळ विद्वान् श्री पी० श्री आचार्य ने ठीक ही संघ-काल को (दूसरी शताब्दी तक का काल) भक्ति-आन्दोलन का उषा काल और अळवारों के आविर्भाव-काल को भक्ति आन्दोलन का 'सूर्योदय' कहा है।[1]

(आळवारो और उनकी रचनाओ का परिचय द्वितीय अध्याय मे विस्तार से दिया गया है। उन्होंने अपने युग को जो महत्वपूर्ण देन दी है, यहाँ केवल उस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।)

आळवार संख्या में बारह थे और वे चौथी पाँचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के बीच विभिन्न कालो में आविर्भूत हुए। फिर भी उनकी विचारधारा प्रायः एक सी

---

१ दिव्य प्रबन्ध सारम्' प्रथम संस्करण श्री पी० श्री० आचार्य पृ० १६।

अनुसार विष्णु भगवान् ही ऐसे हैं जो भक्तों की पुकार सुनकर उन्हे अपनी शरण मे लेते हैं और उनको मुक्त कर सकते हैं। जहाँ मुक्ति के अन्य साधन साधारण लोगो के लिए कठिन हैं, वहाँ भगवान् की सेवा युक्त भक्ति सरल होकर भी भगवान् की कृपा को प्राप्त कर सकती है। भगवान् के नाम का स्मरण मात्र करना पर्याप्त है। एक निष्ठा से भगवत्सेवा में लीन रहना भक्ति का श्रेष्ठ रूप है। चाहे भगवान् की सेवा किसी भी रूप में हो, मुक्ति निश्चित है। यह मुक्ति भगवान् की सेवा करने के अनिवार्य फल के रूप मे नहीं, बल्कि वह भक्त की सेवा से प्रसन्न होने पर भगवान् के अनुग्रह के रूप में होती है। वैष्णव मत मे इसे प्रपत्ति अथवा शरणागति कहते हैं। भगवान् की शरण मे अपने को पूर्ण रूप से समर्पित करने से भगवान् के अनुग्रह का उदय हो सकता है। आळवारो की रचनाओ मे आरम्भ से अन्त तक इस प्रकार के विचार भरे पड़े हैं जो गीता द्वारा प्रतिपादित हैं। आळवारो ने अन्य सभी मार्गों से भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठ बताकर शरणागति-तत्व पर अधिक जोर दिया है।[1] आळवारो के अनुसार भगवान् को सन्तुष्ट करने के लिए यज्ञ या पशु-बलि व्यर्थ है। आळवारो की रचनाओ में अहिंसा के उपदेश दिये मिलते हैं।

आळवार सगुणोपासक थे। ऐसे भगवान् जो सर्वसाधारण की कल्पना मे आ सकें, इन्ही के गुणों का वर्णन आळवारो ने किया है। आळवार युग मे तो तमिळ-प्रदेश में कितने ही मन्दिर थे जिनमें स्थित भगवन्मूर्तियों के दर्शन करने और सामूहिक रूप (Congregational) मे प्रार्थना, भजनादि करके आत्म-विभोर हो जाते थे। आळवारों ने भी स्वयं विभिन्न वैष्णव मन्दिरों की यात्रा कर उनमे स्थित भगवान् के सगुण रूपो (अर्चावतार रूप) की स्तुति मे अनेक पद गाये है। मन्दिरो मे जाकर भगवान् के दर्शन करना, भगवान् की सेवा मे उपस्थित होना, भजनादि करना, भगवान् के अनुग्रह पर विश्वास रखना आदि बाते तत्कालीन युग को आळवार की देन है। इस प्रकार भक्तों को सर्वदा भगवद्-चिन्तन मे तल्लीन रहने की प्रेरणा देकर आळवारो ने अपने युग में भक्तिमय धार्मिक वातावरण की सृष्टि की। यह सबसे बड़ी बात है।

कुछ विचारकों का मत है कि तमिळ-प्रदेश में भक्ति-आन्दोलन का जो रूप स्थिर हुआ, उसका श्रेय बौद्ध और जैन धर्म को है। डा० ताराचन्द ने अपने ग्रन्थ मे एक स्थान पर आळवारों और नायनमारो पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव को बतलाते हुए लिखा है :—

---

1. "Much that is actually taught in Geeta is scattered through and through the works of Alvars who mention in unmistakable terms the three fold paths of Salvation by Karma, Jnana and Bhakti. But Alvars come to the conclusion that though they are recognised means, in the last resort is to depend entirely on the *Grace* of God

History of Tirupati, Vol. I Dr S K. Iyengar p 123

"For they took over from Buddhism its devotionalism, its sense of transitoriness of the world its conception of human-worthlessness, its suppression of desires and asceticism as also its ritual, the worship of idols and stupas or lingams, temples, pilgrimages, fasts and monastic rules and its idea of spiritual equality of all castes; from Jainism they took its ethical tone and its respect for animal life.

The assimilation of these ideas into Puranic theology and the pervasion of the whole with warm human feelings was the achievement of the saintly hymn-makers of Tamil land."[1]

यहाँ डा० साहब के उपर्युक्त कथन में तथ्य का अंश कितना हो सकता है, उस पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। परन्तु इतना अवश्य कह देना उचित समझते हैं कि आळवारों ने अपने युग की माँग को ध्यान में रखकर बौद्ध और जैन धर्मों से केवल उन बातों को ग्रहण किया होगा, जिन्हें वे ग्राह्य समझते होंगे। (और डा० साहब की उपर्युक्त सूची में दी हुई सभी बातों को नहीं।) आळवारों ने बौद्धों और जैनों की बुराइयों का भी खूब खंडन किया है।

आळवारों के जीवन और उनकी रचनाओं में प्रतिपादित विचार-धारा की पुष्टि करने से बोध पड़ता है। प्रायः सभी आळवार साधारण भक्तों के ही सदृश थे। सांसारिक वैभवादि की ओर उनका आकर्षण किंचित् भी नहीं था। उनकी लगन अपने आराध्य के प्रति निरन्तर लगी रही और उसी भावना द्वारा मन-संयम कर वे अपने वश में रखे हुए। इन भक्तों के बीच ऊँच-नीच—सभी जाति के लोग थे। भगवद् भक्ति एवं आत्मशान्ति ही उनका परम उद्देश्य था। उन्होंने भगवान् को नित्य, अनन्त और अखण्ड मानकर भक्ति में प्रपत्ति अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण को आवश्यक माना। उन्होंने सभी जाति और वर्ण के लोगों को अपनाया था।

उनका जीवन भी क्या था? आदर्शों का अद्भुत नमूना। इसलिए लोग उनको अवतार तक समझने लगे। यहाँ तक कि दक्षिण भारत के कई तीर्थ स्थानों में इन आळवार भक्तों की प्रतिमाएँ देव-प्रतिमा के समान पूजी जाने लगीं। आळवारों के सम्बन्ध में स्वामी शुद्धानन्द भारती ने जो लिखा है, वह पूर्णतः सत्य है :

"An Alvar is a golden river of love and ecstacy which finds its dynamic peace in the boundless ocean of *Sachchidananda*. An Alvar is a living Gita, breathing Upanishad, a moving temple, a hymning torrent of divine rapture."[2]

---

1. *Influence of Islam on Indian Culture.* Dr Tarachand, pp 86-87
2. *Alvar Saints* Swami Shuddhananda Bharati, p. 3

डा० ताराचन्द ने अपने ग्रन्थ "Influence of Islam on Indian Culture" मे एक स्थान पर इस ओर सकेत किया है कि आलवारो की विचार-धारा पर इस्लाम का प्रभाव हुआ होगा ।[1] उनका तर्क यह है कि इस्लाम भारत मे सातवी शताब्दी मे पहुँच गया था और उस समय मलाबार मे मापला लोग भी मुसलमान हो गये थे और इस प्रकार इस्लाम की विचार-धारा दक्षिण मे फैल गयी । आळवारो के विचारो और इस्लाम के मत मे अनेक बातो मे समानता देखकर डा० ताराचन्द ने आळवारो को इस्लामी विचारधारा से प्रभावित होने का अनुमान किया है । परन्तु यह तो अब सिद्ध हो चुका है कि प्रथम तीन आळवार छठी शताब्दी के पहले ही हुए थे और इस्लाम का प्रवेश भारतवर्ष मे सातवी शताब्दी से हुआ । सातवीं शताब्दी में इस्लाम के दक्षिण मे आने पर भी उसके प्रभाव के तुरन्त ही जनता पर होने की कल्पना करना व्यर्थ है । वास्तव मे उसका प्रभाव दसवीं शताब्दी के बाद ही हुआ और आळवारो का काल तो चौथी या पाँचवीं शताब्दी से लेकर नवी शताब्दी तक समाप्त हो जाता है । अतएव आळवारों पर इस्लामी विचारधारा के प्रभाव की कल्पना करना व्यर्थ है । और आळवार ऐसे सिद्धान्त निरूपक न थे कि उनकी विचारधारा किसी दूसरी विचार-धारा से प्रभावित हो सके । उनका ध्येय सिद्धान्त-निरूपण नहीं था । वे तो समाज-सुधारक, सन्त थे, भावुक कवि थे जिन्हें तमिळ-प्रदेश की तत्कालीन परिस्थितियो ने जन्म दिया ।

यह आश्चर्य की बात हो सकती है कि इस्लाम की विचार-धारा और आळवारो की विचार धारा मे कई बातो मे समानता थी । इस्लाम एक ही ईश्वर को मानता है । आळवारों ने भी एक ही परब्रह्म की अखण्ड शक्ति का वर्णन किया है ।[2] उसी को अनेक नामो से पुकारा है । उनके अनुसार उसी का नाम विष्णु है, कृष्ण है । आळवारों ने ब्रह्मा, शिव आदि को उसी परब्रह्म विष्णु के अंश माने हैं । इस्लाम मे जाति प्रथा की कठोरता नही है । इस्लाम के अनुसार बाह्योपचार प्रमुख नही है । एकेश्वरवाद आकुल भक्ति-भावना, प्रपत्ति और गुरु-भक्ति आदि पर इस्लाम जोर देता है । आळवारों ने तो अपने वैयक्तिक जीवन द्वारा इन बातो का निरूपण किया था । आळवार भी बाह्याचार और आडम्बर पर विश्वास नही रखते थे । जाति प्रथा को तो वे बिल्कुल नही मानते थे । मधुर कवि आळवार जो ब्राह्मण वृद्ध थे, शूद्र युवक नम्माळवार के शिष्य बन गये । तिरुप्पाण आळवार तो निम्न जाति के थे ही । आळवारों के भक्ति-मार्ग में स्त्री-पुरुष का भी भेद नही था । आण्डाळ तो महिमामयी भक्ता हो गयी थी । गुरु-भक्ति भी आळवारों द्वारा प्रतिपादित थी । मधुर कवि

1. *Influence of Islam on Indian Culture*: Dr. Tarachand, pp. 107-108.
2. "One other feature of improtance (in Alvars) is the notion that runs through and through, that God is really one and that One is Vishnu in any one of his innumerable aspects"

History of Tirupati Dr S. K. Aiyengar pp 151 152.

आळ्वार ने अपने गुरु नम्माळ्वार को ईश्वर सदृश माना था और उनकी सेवा में अपने समस्त जीवन को अर्पित कर दिया था। इस प्रकार आळ्वारों की विचार-धारा और इस्लामी विचार धारा में अनेक बातों में समानता दिख पड़ना केवल संयोग की बात है और डा० ताराचन्द के अनुसार यह मानना कि इस्लामी विचार-धारा से प्रभावित होकर आळ्वारों ने अपनी रचनाओं में इन्हीं बातों का प्रचार किया, असंगत होगा। हो सकता है कि उनकी रचनाओं से पश्चात् आने वाले आचार्य कुछ अंश में इस्लामी भक्ति-भावना से प्रभावित हुए हों।

आळ्वार सुधारक ही नहीं, अपितु उच्चकोटि के कवि भी थे। भक्ति की व्याख्या के लिए उन्होंने तमिल की सभी साहित्यिक परम्पराओं को अपनाया था। उनके मधुर गीतों के संग्रह "दिव्य प्रबन्धम्" को पाकर तमिल का भक्ति-साहित्य धन्य है। उनके गद्य पद्य में हृदयों को द्रवित करने वाली शक्ति है। कठोर से कठोर हृदय को भी द्रवित करने का सामर्थ्य है। भक्तिरससिन्धु में डूबे ऐसे गाना सरस संगीत है। उनके गीतों को गा गाकर कितने ही भक्त आत्म विभोर हो जाते थे और तन्मयावस्था तक पहुँच जाते थे। आळ्वारों ने न जाने कितने प्रकार से भगवान् से भक्त के सम्बन्ध की कल्पना की है। जिसे परवर्ती साहित्य में नवधा भक्ति कहा गया है, वह आळ्वार-साहित्य में कूट-कूट कर भरी पड़ी है। आळ्वारों ने वात्सल्य, सख्य, दास्य और कान्ता भाव से भक्ति का चित्रण किया है।[1] आळ्वार भक्ति-भावना को स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्ध के रूप में मानते थे। आध्यात्मिक भावों का इन्द्रिय सुलभ प्रकाशन और उनके लिए आन्तरिक प्रेरणा भी तभी संभव है जबकि उन्हें प्रतीकों के माध्यम द्वारा उनको अनुभव गम्य कर दिया जाय। आळ्वारों ने अपने गीतों में प्रतीकों द्वारा प्राप्त ऐन्द्रिय अनुभवों को अपने आत्मानन्द का आधार बनाया था। आळ्वारों के पद्यों में उच्च कोटि के रहस्यवादी विचार भी देखने को मिलते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आळ्वारों ने परवर्ती समाज को बहुत ही प्रभावित किया होगा। आळ्वारों की विचार-धारा से प्रभावित होकर अनेक आचार्यों ने उसका शास्त्रीय विवेचन शुरू कर दिया। श्री रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैतवादी विचार-धारा का निर्माण तो आळ्वार साहित्य की पृष्ठभूमि पर ही हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। आळ्वारों ने भक्ति का जो दीपक जलाया था, वह उनके समय के बाद भी शताब्दियों तक जलता रहा। आळ्वारों की भक्ति की रस-धारा विभिन्न आचार्यों

1. "Nammalvar puts himself in all kinds of attitudes known to Literature, for expressing high emotion. We may therefore conclude that Nammalvar exemplifies par excellence the methods of personal devotion to the deity with a view ultimately to the attainment of that realisation which is the goal of Mysticism of the School of Bhakti." *History of Tirupati* : Dr S Krishnaswamy Aiyengar, Vol 1., pp 154-155.

द्वारा उत्तर की ओर लायी गयी। इसी को लक्ष्य करते हुए, भक्ति की जन्म-भूमि दक्षिण को मानकर ही भागवतकार ने संकेत किया है—

"उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डितांगका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सहमन्दताम्॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक् श्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥"[१]

अन्त में भारतीय भक्ति-आन्दोलन में आळवारों और उनकी रचना "प्रबन्धम्" का जो स्थान है, उसे स्पष्ट करने के लिए कवि 'दिनकर' के निम्नलिखित विचारो को यहाँ उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं—

"गीता और भागवत तथा गीता और रामानुज के बीच की कडी यह आळवार संत हैं। भक्ति का दर्शन आळवारों के तमिळ-प्रबन्धो से आया है और कदाचित्, भागवत भी उसी प्रबन्धम् से प्रेरित है।"[२] प्रबन्धम् मे आळवारो के पद, मूल रूप मे रखे गये थे। पीछे वैष्णव विद्वानों ने उन पर टीकाएँ भी लिखी। इस प्रकार "प्रबन्धम्" भक्ति-आन्दोलन का आदि ग्रन्थ बन गया।

"अभी तक भागवत पुराण ही भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ समझा जाता है। किन्तु हमारा अनुमान है कि इस आन्दोलन का मूल ग्रन्थ भागवत नही, "प्रबन्धम्" है। यह इस कारण कि यद्यपि भागवत और प्रबन्धम्—ये दोनो ग्रन्थ एक ही समय मे लिखे गये, फिर भी प्रबन्धम् की बहुत सी कविताएँ दूसरी-तीसरी सदी से प्रचलित चली आ रही है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि "प्रबन्धम्" की कविताएँ जनता की भक्ति-साधना की सीधी अभिव्यक्ति हैं। किन्तु भागवत की रचना पाडित्य के स्तर पर की गयी है। "प्रबन्धम्" भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ क्यों माना जाय? इसका संकेत भी भागवत ही देता है, क्योंकि उसका भी मत है कि भक्ति का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था।"[3]

---

१. श्रीमद्भागवत, माहात्म्य—अध्याय १, श्लोक ४८, ४९, ५०।

2. "......Hindus are by no means in accord as to its (Bhagvat Purana's) age or authorship, but as ALBERUNI mentions it, it can have been hardly written after 900 A. D. and must be due to a community of singers in the Tamil Country."—*Encyclopedia Britanica*, Part 12, 4th Edition. p. 162.

२ संस्कृति के चार अध्याय द्वितीय —श्री रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २९६

आलवाय नदी के तट पर स्थित 'कालडी' नामक स्थान में एक नंबूद्री ब्राह्मण परिवार में हुआ। शांकर युगीन आध्यात्मिक-जीवन बहुत ही अस्त-व्यस्त था। जैन, बौद्ध आदि वेद विरोधी थे। उनमें प्रारम्भ में जो बौद्धिक स्वस्थता थी, वह समाप्त हो चुकी थी। सारा देश अनेक प्रकार के धार्मिक संप्रदायों में विभक्त था। शक्तिशाली बौद्धमत की छत्रछाया में पनपने वाले वज्रयान, सहजयान जैसे वाममार्गी सम्प्रदायों के साधन-मार्ग लोक जीवन को विकृत आचरणों से आदर्श भ्रष्टकर विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रहा था। परम्परागत दोषों से जर्जर होकर वैदिक धर्म प्रभावहीन हो चुका था। इस समय अलौकिक प्रतिभा-संपन्न शंकर ने एक ओर ज्ञान-प्रधान औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना की और दूसरी ओर वेद विरोधी विचार-धारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेग को रोककर प्रबल आध्यात्मिक-दर्शन का प्रतिपादन किया। बौद्ध और जैन धर्मों के मूल सिद्धान्तों की संगति अद्भुत तर्क-शैली के द्वारा उन्होंने वैदिक धर्म में सिद्ध की और अपनी दिव्य प्रतिभा से चतुर्दिक प्रचलित बौद्ध एवं जैन मत का खंडन कर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की। जाति-पाँति की संकीर्ण परिधि को हटाकर तथा परम्परागत दोषों को दूर कर समाज को एक नवीन दिव्यलोक दिखाया। उन्होंने वैदिक धर्म की रक्षा के लिए समस्त भारत में मठ बनवाये और श्रुति-स्मृति विहित वैदिक धर्म का पुनः स्थापन करके निवृत्ति-मार्ग के वैदिक संन्यास-धर्म को पुनर्जन्म दिया। उनके विचारों का प्रभाव भारत के सभी प्रान्तों पर पड़ा है और उनकी विचार-तरंगों के तीव्र-प्रवाह में अन्य सभी छोटे-मोटे मत मतान्तर विलीन से हो गये।

शंकर का कथन था कि श्रुति कथित सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं है, केवल उनकी व्याख्या में अन्तर है। वैदिक धर्म के इन्होंने दो स्वाभाविक विभाग 'ज्ञान' और 'आचरण' बनाये। प्रथम विभाग में उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से लगाया और दूसरे आचरण-पथ में मनुष्य के आचरणों का निर्देश किया। शंकर का दार्शनिक सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' कहलाता है। उनके अनुसार समस्त संसार असत्य है। केवल एक शुद्ध परब्रह्म ही सत्य है।[1] केवल भ्रम अथवा माया से भेद की प्रतीति होती है। वस्तुतः जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप है। माया मानवीय दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करती है, जो मिथ्या है। शंकर माया की वास्तविकता तनिक भी नहीं मानते और उनकी दृष्टि में वह केवल अविद्या है जो अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही विलीन हो जाती है। शंकर ने 'तत्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों की तर्कसम्मत व्याख्या करके ऐसे युक्तिसंगत धर्म-दर्शन का प्रचार किया जिसमें जनता को अन्तर्मुख करके सत्य ज्ञान का साक्षात्कार कराया।

पर लोकमान्य तिलक शंकर का समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्व मानते हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि वे नवीं शती के पहले ही आविर्भूत हुए थे।

१ 'ब्रह्म सत्यं '

शंकर ने उपनिषदों के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्तों को स्थिर किया और घोषित किया कि शुद्ध, बुद्ध नित्य मुक्त परमात्मा के अतिरिक्त जगत् में कोई परमार्थ सत् वस्तु नहीं है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" महावाक्य से उन्होंने ब्रह्म को निर्विशेष, निर्गुण निराकार बताया। उनका कहना है कि श्रुतियों में कहीं कहीं सगुण ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के हेतु ही है। उनके अनुसार ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण है।

शंकर का आचरण-पक्ष भी महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार श्रुति शास्त्रों में निरूपित आचार-व्यवहार अपना विशेष महत्व रखते हैं, जिनके बिना न तो शुद्धि ही सम्भव है और न ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता है। शांकर सिद्धान्त के आचरण-पक्ष के अनुसार कर्म करना भी अनिवार्य है। परन्तु अन्त में ज्ञान को प्राप्त कर संन्यास लेना आवश्यक है। क्योंकि सब रागात्मक और कर्मों को त्यागे बिना ब्रह्म-ज्ञान असंभव है। यही शांकर सिद्धान्त में 'निवृत्ति-मार्ग' कहलाता है। इसी को संन्यास-निष्ठा या ज्ञान-निष्ठा भी कहा जाता है। शंकर ने उपनिषदों, ब्रह्म-सूत्रों और गीता को ज्ञान और कर्म का समुच्चय करने वाली कृतियाँ मानकर अपने सिद्धान्त के दोनों पक्षों की संगति उनसे लगायी। उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी' पर अपना भाष्य लिखा। अपने अद्वैत मत के तर्क-सम्मत विचारों का प्रचार कन्याकुमारी से हिमालय तक किया। वेदान्त की दुंदुभि बजाते हुए बौद्धों के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। संक्षेप में, अपनी प्रखर प्रतिभा, विद्वत्ता और असाधारण संगठन शक्ति के बल पर, वैदिक धर्म पर जो विपत्ति आ गयी थी, उसे दूर कर सके।

इसमें सन्देह नहीं कि शांकर मत के प्रभाव से भारत देश के आध्यात्मिक जीवन में एक नवीन शक्ति का उन्मेष हुआ और बौद्धमत तथा अन्य वेद-विरोधी मतों का भी प्रतिरोध हुआ। किन्तु उपासना के क्षेत्र में शंकर का अद्वैतवाद भारतीय जन-मानस को छू तक नहीं सका। इसका कारण स्पष्ट है। शंकर ने ब्रह्म की महिमा को उस अमूर्त स्थिति तक पहुँचा दिया था कि साधारण व्यक्ति ने उसे अपनी बुद्धि से ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पाया। दूसरी ओर संन्यास को आवश्यक बताकर उन्होंने समाज-धर्म की उपेक्षा कर दी। फलतः साधारण व्यक्ति का भावुक हृदय शंकर के अद्वैत सिद्धान्त से कोई भावात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सका।

दिखाया जा चुका है कि ईसा की छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में तमिळ-प्रदेश में आळवार और नायन्मारों ने द्रुत गति से भक्ति की रस-धारा प्रवाहित की थी जिसमें सारा समाज बह गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि आळवारों और नायन्मारों की प्रेममूलक भक्ति-भावना की पावन सरिता बुद्धि-पक्ष-प्रबल शंकराचार्य के मायावादी प्रखर तर्कों को भेदकर पहाड़ी निर्झरिणी की भाँति अबाध गति से प्रवहमान रही। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का प्रभाव भारत के दार्शनिक चिन्तन के समस्त क्षेत्र पर पड़ा था। अतः आळवारों

और नायनमारो की परम्परा में आने वाले तमिळ-प्रदेश के भक्तों को इस बात की बड़ी आवश्यकता प्रतीत हुई कि तमिळ सन्तों की प्रेम-भक्ति-प्रधान विचार-धारा को सुरक्षित रखना शंकर के तर्क-प्रधान मायावाद का खण्डन किये बिना कठिन है। उन्होंने शंकर के मायावाद का खण्डन दार्शनिक दृष्टि से करने के उद्देश्य से आळवारों की भक्ति-भावना के लिए निश्चित दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने आळवारों के 'तमिळ वेद' का भली-भांति अध्ययन कर संस्कृत शास्त्रो से संगति बैठाने का प्रयत्न किया। ये आचार्य 'उभय वेदान्ती' कहलाये। इन आचार्यों ने दर्शन के क्षेत्र में शकर के प्रभाव को मिटाने के लिए तर्कपूर्ण शैली में संस्कृत साहित्य का विपुल सर्जन किया और अपने विचारों का प्रचार करने के लिए देश के प्रधान क्षेत्रों में भ्रमण कर विद्वानो से शास्त्रार्थ किया। इन आचार्यों के उद्देश्यो के मूल मे तीन बातें थीं। वे हैं—(१) वैदिक धर्म का महत्व-स्थापन, (२) अवैदिक संप्रदायों का पूर्ण बहिष्कार, और (३) आळवारों के द्वारा प्रतिपादित शरणागति वाली भक्ति का प्रचार।

नाथमुनि

यह भूलना नही चाहिये कि वैष्णव-आचार्यों की जो परम्परा नवीं शताब्दी के बाद चली, उसका मूल-स्रोत तमिळ-प्रदेश के आळवारों की परम्परा मे ही पाया जाता है। आळवारों के बाद आने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम श्री नाथमुनि माने जाते हैं। ये नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे।[1] इनका जन्म 'वीरनारायणपुरम्' नामक स्थान में हुआ था। इनके जीवन का अधिकांश समय श्रीरंगम् में बीता। कुछ लोग मानते हैं कि इनके पूर्वज कदाचित् उत्तरी भारत के किसी प्रदेश से आये थे और वे भागवत धर्मावलम्बी रह चुके थे। नाथमुनि संस्कृत तथा तमिळ के बड़े विद्वान् थे। इन्होंने बड़े परिश्रम से आळवार भक्तो के प्रचलित गीतों का संग्रह किया और संपादन किया जो 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि नम्माळवार के पदों को प्राप्त करने के लिए नाथमुनि, आळवार के जन्म-स्थान 'तिरुनगरी' में जब गये[2] तब नम्माळवार ने इन्हें स्वप्न में अपने सभी पद सुनाये। अत: गुरुपरम्परा ग्रन्थों और 'दिव्यसूरि चरित' के अनुसार नम्माळवार से नाथमुनि का गुरु-शिष्य-सम्बन्ध था।[3] लेकिन नाथमुनि ने नम्माळवार की शिष्य-परम्परा में आने वाले परांकुश मुनि का ही शिष्यत्व ग्रहण किया था और तमिळ-वेद का महत्व उन्हीं से समझा था। इन्होंने ही श्रीरंगम् के मन्दिर में आळवार

---

1. "Nathmuni: His life and times"—R. Ramanucharya, M. A., *Journal of Annamalai University*, Vol. 9. June, 1940.
2. *History of Sri Vaisnavas*—T. A. Gopinatha Rao, p. 8.
3. *History of Indian Philosophy*—Dr. S. N. Das Gupta, Vol. III, (2nd Edition), p. 94.

तमिळ-नाम 'आळवंदार' है। आळवन्दार नाथमुनि के पौत्र थे। [illegible]
मथुरा में यमुना नदी में स्नान कर नाथमुनि इतने प्रसन्न हुए थे कि उसके [illegible] में
अपने पुत्र का नाम 'यामुन' रख दिया। यामुनाचार्य का जन्म सन् ९१८ ई० में और
निधन १०३८ में माना जाता है।[1] इन्होंने राममिश्र से वेदों की विद्या प्राप्त की और
ये एक सफल तार्किक बन गये। नाथमुनि के समान आध्यात्म निष्णात विद्वान् थे।
इन्होंने एक राजा के पुरोहित को शास्त्रार्थ में परास्त किया और राजा से पुरस्कार
स्वरूप उसके राज्य का एक हिस्सा प्राप्त किया। फिर ये ठाट-बाट का जीवन बिताने
लगे। राममिश्र ने जब देखा कि यामुन अपने राजसी वैभव में ही दिन-रात बिताते
रहे, तब उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ और उन्होने 'यामुन' को किसी तरह समझा-बुझाकर
उनमें अध्यात्म-विद्या की अभिरुचि उत्पन्न की और उन्हें भक्ति शास्त्र का उपदेश
देकर अपना शिष्य बनाया।

यामुनाचार्य ने नाथमुनि के शिष्य कुरुकनाथ से अष्टांग-योग की विद्या भी
प्राप्त की। राममिश्र के गोलोक-वास के अनन्तर यामुनाचार्य (आळवन्दार) ही श्रीरंगम्
के आचार्य-पीठ पर आरूढ़ हुए। इनके अनेक शिष्य थे जिनमें २१ प्रधान थे। इनके
शिष्यों में सभी वर्गों के लोग थे। इन्होंने चोळ राजा और उसकी पत्नी को वैष्णव-
सम्प्रदाय में दीक्षित किया। यामुनाचार्य नम्माळवार की रचनाओं के बड़े प्रेमी थे,
जिनमें सुरक्षित उच्चकोटि के भावों को लोगों को सुनाते थे। इन्होंने सभी आळवारों
के काव्यों के प्रचार, प्रसार और अध्यापन के अतिरिक्त नवीन ग्रन्थों का भी प्रणयन
किया। इनके छः ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। ये हैं—(१) स्तोत्र रत्नम्, (२) चतुःश्लोकी,
(३) सिद्धि त्रय, (४) आगम-प्रामाण्य, (५) गीतार्थ संग्रह, और (६) महापुरुष निर्णय।

यामुनाचार्य ने श्री रामानुज के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हें अपने उत्तरा-
धिकारी के रूप में चुन लिया था। "प्रपन्नामृत" में कहा गया है कि यामुनाचार्य अपने
अन्तिम समय में श्री रामानुज से मिलना चाहते थे। अतः उन्होंने श्री रामानुज को
अपने पास बुलाया। परन्तु श्री रामानुज के उनके पास पहुँचने से पहले ही उन्होंने
इहलोक-लीला समाप्त कर दी। अतः श्री रामानुज यामुनाचार्य के मृत शरीर के ही
दर्शन कर सके। रामानुज ने (जैसा कि कहा जाता है) देखा कि आचार्य के हाथ की
तीन उँगलियाँ मुड़ी हुई हैं और उनके संकेत का अर्थ उन्होंने समझ लिया कि यामुनाचार्य
उनके द्वारा तीन कार्य करवाना चाहते थे—ब्रह्म-सूत्र तथा विष्णु-सहस्र-नाम पर
भाष्य और आळवारों के दिव्य 'प्रबन्धों' की विस्तृत टीका। रामानुज ने आचार्य की
तीनों इच्छाओं की पूर्ति करने की प्रतिज्ञा की।

श्री रामानुजाचार्य

यद्यपि नाथमुनि, यामुनाचार्य जैसे आचार्यों द्वारा श्री वैष्णव मत की रूपरेखा

---

1 *History of Indian Philosophy*—Dr S N Das Gupta, Vol. III., (2nd Edition), p 97

तैयार हो गई थी, तथापि उसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने और उसका देश व्यापी प्रचार करने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य (तमिळ-नाम—इळैय पेरुमाळ) को ही है। श्री रामानुज का जन्म सन् १०१६ में मद्रास के समीप पेरुम्बुदूर नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था में 'यादव प्रकाश' नामक एक अद्वैती विद्वान् के यहाँ वेदान्त का अध्ययन किया। उस समय वे कांचीपुरम में रहते थे। अद्वैतवाद के विषय में अपने गुरु से मत-भेद हो जाने से उन्हें वहाँ से हटाना पड़ा। फिर रामानुज ने श्रीरंगम् आकर आळ्वारों के प्रबन्धों का भली-भाँति अध्ययन किया और श्रीवैष्णव मत को अपनाया। उसके पश्चात् वे यामुनाचार्य के शिष्य हुए और श्रीसम्प्रदाय की स्थापना की। यामुनाचार्य के वैकुण्ठधाम के पश्चात्, अपनी असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता के कारण वैष्णव मत की गद्दी के उत्तराधिकारी बने। नाथमुनि की तरह श्री रामानुज ने भी उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थ स्थानों की यात्रा की। श्री रामानुज ने अपने भक्ति-विषयक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत में अनेक ग्रन्थों और भाष्यों का प्रणयन किया।

रामानुज के अनुसार चित् जीव भोक्ता है और अचित् जगत् भोग्य है। परमेश्वर इन दोनों का अन्तर्यामी है। तीनों नित्य हैं। किन्तु प्रथम दो स्वतः स्वतन्त्र होते हुए भी ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। श्री रामानुज भी ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को मानते हैं, लेकिन उनके अनुसार उपर्युक्त दोनों गुणों से विशिष्ट रहने के कारण विशिष्टाद्वैत है। रामानुज किसी भी पदार्थ को निर्गुण नहीं मानते। संसार के सभी पदार्थ गुण विशिष्ट हैं। ईश्वर सदैव सगुण है।

शंकर के अद्वैत मत में ब्रह्म और जीव की एकता मानी गयी है। जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म के समान ही शुद्ध और स्वप्रकाश है। परन्तु रामानुज के अनुसार जीव न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, नित्य मुक्त ही। वे जीव को सेवक और भगवान् को सेवी मानते हैं। दोनों में देह-देही अथवा स्फुलिंग और अग्नि का सम्बन्ध है। ईश्वर जीव का नियामक है और जीव की मुक्ति ईश्वर पर अवलम्बित है। शंकर के अनुसार जीव के बन्धन का कारण अविद्या है और अविद्या का नाश ज्ञान से होता है, क्रिया से नहीं। किन्तु रामानुज मुक्ति को उपासना द्वारा ही सम्भव मानते हैं। शंकर के अनुसार केवल ज्ञान ही मुक्ति के लिए पर्याप्त साधन है। परन्तु रामानुज भक्ति को मुक्ति का एक मात्र साधन मानते हैं।

भगवान् की कृपा ही उनकी प्राप्ति का उपाय है। प्रपत्ति या शरणागति इस कृपा के लिये साधन है। गुरु भी एक साधन है। विशिष्टाद्वैत मत में भक्ति अन्तिम सोपान है, जिस पर चढ़कर जीव प्रभु को प्राप्त करता है। भक्ति के पूर्व ज्ञान-योग और उससे भी पूर्व कर्म-योग की स्थिति है। कर्म द्वारा हृदय शुद्ध होता है और वह ज्ञान-योग की ओर ले जाता है। ज्ञानयोग से प्रकृति का अनुभव होता है और उस अनुभव से जीव अपने को प्रकृति से पृथक समझने लगता है। जीव का [illegible]
ही उसे भगवद्भक्ति की ओर आकर्षित करता है। भक्ति-योग में [illegible] की

साधना भी सम्मिलित है। भक्ति-योग की प्राप्त के लिए रामानुज ने सात साधनो का वर्णन किया है—(१) पवित्र अन्न के द्वारा शरीर की शुद्धि; (२) सदाचार; (३) अनवरत अभ्यास; (४) पंच महायज्ञो का संपादन; (५) सत्य, दया, दान, अहिंसा आदि का पालन; (६) आशावादिता; और (७) अहंकार का त्याग। इन साधनों द्वारा भक्ति-भावना सिद्ध होती है।[1]

श्री रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष—दोनों का सुन्दर सामंजस्य है। हृदय-पक्ष आळवारों की देन है और बुद्धि-पक्ष का समावेश शास्त्र-ग्रन्थो में प्रतिपादित शास्त्रीय भक्ति से हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रामानुज के भक्ति-विषयक सिद्धान्तो पर आळवारो की विचार-धारा का गहरा प्रभाव पड़ा है—"प्रपत्ति तो आळवारों की शरणागति को रामानुज द्वारा दिया हुआ पारिभाषिक नाम है। आळवारो मे भक्ति के जो लक्षण थे, उन्हें अन्य भक्तो के लिए भी निर्दिष्ट करने को रामानुज ने 'प्रपत्ति' नामक शब्द निकाला। यह भी ध्यान देने की बात है कि द्विजो के साथ शूद्रों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का अधिकार, सब से पहले रामानुज ने ही प्रदान किया। इसका कारण था कि आळवारो से अनेक शूद्र वंश के थे और शूद्र कुलोत्पन्न होने पर भी जनता उन्हें पूज रही थी।"[2] सारांश यह है कि श्रीवैष्णव संप्रदाय का भक्ति-तत्व तात्विक दृष्टि मे गीता, पांचरात्र संहिताओ पर आधारित होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से आळवारों के प्रबन्धों पर आधारित है।

१४ वीं शती के लगभग 'प्रपत्ति' को लेकर श्रीवैष्णवों में दो दल हो गये। वेदान्त देशिक (वेंकटनाथ) तथा उनके पक्ष वालों ने भक्ति को मुक्ति का एक मात्र साधन नहीं मानकर ज्ञान का अनुष्ठान भी आवश्यक बताया। मणवाळमामुनि (श्री लोकाचार्य) और उनके अनुयायियों ने प्रपत्ति को ही एक मात्र मार्ग बताया और उस पर विशेष जोर दिया। प्रथम दल वाले "वडकळै" कहलाये और दूसरे विचार वाले 'तेन्कळै' नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री ए० गोविन्दाचार्य ने 'वडकळै' और 'तेन्कळै' के १८ सिद्धान्तगत भेद बताये हैं।[3] 'प्रपत्ति' के विषय में दोनों में जो मत-भेद है, उसे स्पष्ट करने के लिए क्रमशः कपि-किशोर और मार्जार-किशोर का उदाहरण दिया जाता है। कपि किशोर अपनी माँ के पेट से चिपका रहता है और मार्जार किशोर बिना कुछ प्रयास किये ही अपनी माँ से रक्षित होता है। "वडकळै" के अनुयायियों को संस्कृत से विशेष प्रेम है और वे संस्कृत के शास्त्र ग्रन्थो के आधार पर भक्ति का उपदेश देते हैं। पर 'तेन्कळै' पक्ष वाले आळवारो के 'दिव्य प्रबन्धों' से विशेष श्रद्धा-भाव

---

१. **भक्ति का विकास**—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३६२।
२. **संस्कृति के चार अध्याय** (द्वितीय संस्करण)—श्री रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २६८।
3 *Journal of Royal Asiatic Society* 1910., p 1103—*Article* by A. Gov a

रखते हैं और 'दिव्य प्रबन्धों' को अपनी भक्ति-साधना का प्रधान आधार मानते हैं।[1] 'तेन्कलै' दल के लोग अपेक्षाकृत उदार दृष्टि के हैं और इनमें आपस में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है। इनमें नीच-जाति के लोग भी सम्मिलित हैं। "वडकलै" लोगों को जाति का गर्व हो गया है। स्मरण रहे कि रामानन्द ने श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के अनुयायी थे, 'तेन्कलै' दल के सिद्धान्तों को ही अपनाया और उनका प्रचार हिन्दी-भाषी क्षेत्र में किया।

श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति-मार्ग के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना सब से पहले रामानुजाचार्य ने ही की है और भक्ति के इस स्वरूप ने उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतया प्रभावित किया।[2]

यह सर्व विदित ही है कि हिन्दी प्रदेश में सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में जितने वैष्णव मतावलम्बी आचार्य और संत हुए, सबने शंकर के मायावाद का तीव्र विरोध किया और सगुण भक्ति के किसी न किसी पक्ष का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार रामानुज ने अपने सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत रखकर इस दिशा में शंकर के अद्वैत मत के साथ किसी न किसी प्रकार समझौता स्थापित किया, उसी प्रकार उत्तर के आचार्यों और भक्तों ने सगुणोपासक होते हुए भी अद्वैत के अंतिम रूप को शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि भिन्न-भिन्न नामों से अपनाया।[3]

मध्वाचार्य और उनका सम्प्रदाय

श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के पश्चात् आचार्य शंकर के मायावाद के विरोध में निकलने वाला दक्षिण-भारत का दूसरा प्रमुख मत द्वैतमत है।[4] इसके प्रतिष्ठापक श्री मध्वाचार्य थे। भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से श्री मध्वाचार्य द्वारा स्थापित द्वैतमत की बड़ी महत्ता है। श्री मध्वाचार्य ने न केवल शंकर के अद्वैतवाद का तीव्र विरोध किया, बल्कि भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा के लिये श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत को भी अस्वीकार कर दिया और द्वैतमत की स्थापना की। इस कारण दक्षिण के आचार्यों में श्री मध्वाचार्य का एक विशिष्ट स्थान है। श्री मध्व का

1. श्री लोकाचार्य ने 'श्री वचन भूषण' नामक ग्रन्थ में प्रपत्ति-मार्ग का विशद् शास्त्रीय विवेचन किया है।
2. सूर और उनका साहित्य (द्वितीय संस्करण)—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ६०।
3. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० २६।
4. "The work of Sri Madhavacharya is but a continuation of that of Sri Ramanuja and his school."—"*Sri Ramanuja and Sri Madhva*": Srinivasa Rao Mardi, (*Vedanta Kesari*, Vol. 29 pp 151-52)

जन्म सन् ११९७ में कर्नाटक के 'उडुपि' नामक स्थान में हुआ।[1] इनका पहला नाम आनन्दतीर्थ था और वेद-वेदाङ्गों की विद्या पाकर उन्होंने दक्षिण और उत्तरी भारत के सभी प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। तत्पश्चात् उडुपि लौट आये और अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने "प्रस्थान त्रयी" पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे और कुल मिलाकर ३७ ग्रन्थ रच डाले।

माध्व मत के अनुसार परमात्मा विष्णु हैं, जो अनन्त गुण सम्पूर्ण हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, आवरण, बोधन, बन्धन तथा मोक्ष—इन आठों कार्यों पर केवल परमात्मा का ही अधिकार है। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उनके शरीर हैं। विष्णु परमात्मा स्वतन्त्र और अद्वितीय हैं। परमात्मा में अनेक रूप धारण करने की शक्ति है, जो जीव में नहीं है। उनके मूल रूप तथा अवतरित रूप में कोई भेद नहीं है। "मत्स्य कूर्मादि स्वरूपों से, कर चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न हैं, अतएव भगवान् और उनके अवतारों में भेद-दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।"[2]

लक्ष्मी, "परमात्म भिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मी" नामक उक्ति के अनुसार परमात्मा से भिन्न होकर भी उसके अधीन रहती है। वह विष्णु (परमात्मा) की माया रूपिणी शक्ति है। यह भी नित्य मुक्त, अप्राकृत, अक्षर, दिव्य और व्यापक है। परमात्मा के इंगितानुसार उनके कार्य-विधान का सम्पादन करती है। लक्ष्मी ही मुक्त और अमुक्त—सबको उनकी योग्यता के अनुसार सृष्टि के समय आनन्द प्रदान करती है। भगवान् लक्ष्मी से स्त्री-भाव रखते हैं।

माध्वमत के अनुसार जगत् सत्य है, जीव भगवान् के किंकर हैं। जीवों की संख्या अनन्त मानी गयी है। जीव तीन श्रेणियों में आते हैं—(१) मुक्ति योग्य, (२) नित्य संसारी, और (३) तमोयोग्य। तीनों प्रकार के जीवों की मुक्ति का रूप भी अलग-अलग है। "मुक्तिर्नैज सुखानु भूतिः" अर्थात् वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मध्वाचार्य ने कर्मक्षय, उत्क्रान्ति लय, अर्चिरादिमार्ग और भोग नामक मुक्ति के चार प्रकार माने हैं। भोग-मुक्ति के भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक चार प्रकार हैं।

मध्वाचार्य के अनुसार उपासना के दो रूप हैं—(१) शास्त्रानुशीलन, और (२) ध्यान। कुछ साधक शास्त्रानुशीलन से अपरोक्ष ज्ञान पाते हैं और दूसरे भगवान् के अखंड स्मरण में लीन रहकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। शास्त्राभ्यास से अज्ञान का आवरण हट जाता है और वास्तविक ज्ञान का बोध होता है। यह ज्ञान परमात्मा के

---

१. मध्वाचार्य के जीवन-काल के विषय में विद्वानों में मत-भेद है। देखिए—
"*The Date of Madhvacharya*"—B. N. Krishna Murti, [illegible] **University Journal**, Vol III (1934) p 245

२ **भारतीय दर्शन—श्री बलदेव**   **पृ० ४९१**

ही अधीन है। अपरोक्ष ज्ञान के मिलने पर ही परम भक्ति प्राप्त हो सकती है, जो भगवान् की कृपा पर निर्भर है। माध्वमत में मुक्ति का सर्वोत्तम साधन 'अमला भक्ति' है। यह शोक रहित निर्मल भक्ति है। यह भक्ति अनन्य और अहैतुकी होनी चाहिए। मध्वाचार्य ने पाञ्चरात्र के तत्वों को विशेष महत्ता नहीं दी। उन्होंने भागवत-पुराण के साधन-मार्ग को ही अपनाया। माध्वमत में राम, कृष्ण आदि सभी अवतारों की उपासना का विधान तो है, परन्तु राधाकृष्ण का उल्लेख नहीं मिलता।

मध्वाचार्य का द्वैतमत भारतीय धर्म-साधना में अपना अलग महत्व रखता है। मध्व ने मायावाद का खण्डन किया, जिससे भक्ति-पथ निष्कंटक हुआ। उन्होंने श्री शंकर और श्री रामानुज की तरह अपने मत में मठों की स्थापना करके संन्यासियों का संगठन किया। उनके पश्चात् उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य मठाध्यक्ष हुए और फिर सम्प्रदाय में क्रमशः अन्य आचार्यगण हुए। दक्षिण भारत में ही नहीं, बल्कि उत्तरी भारत में भी माध्वमत का प्रचार हुआ। इस मत के अनुयायी अब विशेषकर कर्नाटक (मैसूर) प्रान्त में और कुछ उत्तर भारत में वृन्दावन आदि स्थानों में पाये जाते हैं।

आळ्वार भक्तों की विचार-धारा और श्री मध्वाचार्य की विचार-धारा में अनेक बातों में साम्य देखा जा सकता है। आळ्वार तो श्री मध्वाचार्य से कुछ शताब्दियों के पहले ही भक्ति-सम्बन्धी अपने विचारों का प्रचार कर चुके थे। चूँकि मध्वाचार्य भी दक्षिण के ही थे और उनके समय तक आळ्वारों के विचारों का काफी प्रचार हो चुका था, अतः बहुत सम्भव है कि श्री मध्वाचार्य की विचार-धारा भी उनसे प्रभावित हो। दोनों विचार-धाराओं के साम्य को स्पष्ट करने के लिये एक स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है।

निम्बार्काचार्य और उनका सम्प्रदाय

सनक सम्प्रदाय अथवा निम्बार्क-सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बार्क आचार्य थे। श्री निम्बार्क के समय का अभी तक निर्णय हो नहीं सका। डा० भाण्डारकर के अनुसार उनका निधन सन् ११६२ में हुआ था। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि ये श्री रामानुजाचार्य के बाद में आविर्भूत हुए। ये तैलुगु ब्राह्मण थे। इनका जन्म कर्नाटक प्रान्त के अन्तर्गत बल्लारी नामक जिले के 'निम्बापुर' नगर में हुआ था। इनके कई नाम मिलते हैं—निम्बार्काचार्य, निम्बादित्य, निम्बभास्कर और नियमानन्दाचार्य आदि। यद्यपि ये कर्नाटक में अवतरित हुए थे, तो भी इनके जीवन का अधिकतर समय वृन्दावन में ही बीता। सम्प्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि निम्बार्काचार्य श्री विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार हैं।

श्री निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित मत द्वैताद्वैत अथवा 'भेदाभेद' कहलाता है। यह भी शंकर के मायावाद के विरोध में खड़ा हुआ था। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे— १) वेदान्त , और

(२) सिद्धान्त रत्न। प्रथम ग्रन्थ "ब्रह्मसूत्रों" पर संक्षिप्त भाष्य के रूप में है। द्वितीय ग्रन्थ का दूसरा नाम "दशश्लोकी" है।

निम्बार्क-मत के अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तो भी जीव तथा जगत् का व्यापार एवं अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित है। जीवात्मा अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीवात्मा अणुरूप है, विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है, अनन्य विशिष्ट और ज्ञानी है। यह जीवात्मा अनादि-माया से बद्ध रहता है और तीन गुणों से संयुक्त रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।

इस मत के अनुसार ब्रह्म अद्वैत, अविभक्त और सदा निर्विकार है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सब गुणों का आश्रय भी है। यद्यपि ब्रह्म निर्विकार है तो भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपों में अनुभूत होता है। ब्रह्म में ऐसी शक्ति है कि वह अपने को अविकृत एवं अविभक्त रखते हुए नाना रूपात्मक पदार्थों में उत्पन्न करके आनन्द का उपभोग कर सकता है। जीव और ईश्वर का सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान तथा अंश और अंशी का है। नारायण, भगवान्, कृष्ण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, आदि परमात्मा के ही विविध नाम हैं। ब्रह्म के चार रूप माने गये हैं—'पर अमूर्त' अर्थात् परम अक्षरत्व, 'अपर अमूर्त' अर्थात् सर्वस्रष्टा, और 'अपर मूर्त' अर्थात् जीव रूप है। इन्हीं कारणों से ही यह मत भेदाभेद या द्वैताद्वैत कहलाता है।

निम्बार्क-मत की साधना रूपिणी भक्ति श्री रामानुज के श्री सम्प्रदाय के भक्ति-योग से साम्य रखती है। इस मत में भी प्रपत्ति अथवा शरणागति तत्व पर विशेष जोर दिया गया है। जीव प्रपत्ति द्वारा ही भगवान् के अनुग्रह का अधिकारी होता है। भगवत्कृपा से आत्मा के अन्दर भक्तिभाव का आविर्भाव होता है जिससे भगवान् के साक्षात्कार की सिद्धि होती है। जीव का जब तक शरीर से सम्बन्ध है तब तक भगवद्-भावोत्पत्ति सम्भव नहीं है, अतः जीवन्मुक्ति की दशा भी सम्भव नहीं है।[1] श्री निम्बार्क के अनुसार भक्ति किसी भी भाव से की जा सकती है, साधक के लिए किसी विशेष भाव को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। नवधा भक्ति के अभ्यास से भगवान् के प्रति प्रेम अथवा रति मिलती है। प्रेम-भक्ति इस सम्प्रदाय में पाँच भावों से पूर्ण कही गई है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल। श्री निम्बार्क कृत "वेदान्त-पारिजात" की "सिद्धान्त-रत्नांजलि" टीका में इन पाँचों रसों का सुन्दर परिचय दिया गया है। यद्यपि प्रथम चारों भक्ति-भावों के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई गई है तो भी अन्तिम भाव—माधुर्य या "उज्ज्वल भाव" को विशेष महत्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय में परम उपास्य-देव श्रीकृष्ण हैं जिनके चरणारविन्दों को छोड़कर भक्तों के लिए और कोई गति नहीं है। ब्रह्मा, शिव

---

१. "वेदान्त रत्न-मञ्जूषा" दशश्लोकी के ९वें श्लोक पर टीका।

आदि भी उनकी वन्दना करते हैं। भक्तों की इच्छा से वे कृष्ण-भक्तों के ध्यान के योग्य आकार धारण करते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य और अप्रमेय है। श्रीकृष्ण केवल स्मरण मात्र से अविद्या पर्यन्त समस्त अनर्थों के हरने वाले हैं। अतः वे हरि कहलाते हैं।

निम्बार्क संप्रदाय के भक्ति-मार्ग की एक विशेषता—राधा की उपासना है। इस सम्प्रदाय में उपास्य-देव श्रीकृष्णचन्द्र हैं जो अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी स्वरूपा शक्तियों से परिवेष्टित रहते हैं। राधा के स्वरूप का विवेचन इस संप्रदाय के अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है। निम्बार्क ने भी राधा को 'अनुरूप-सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। श्रीकृष्णचन्द्र जिस तरह सर्वेश्वर हैं, उसी तरह राधा भी सर्वेश्वरी हैं। राधिका वृषभानु की कन्या हैं जो कृष्ण के वामांग में सुशोभित हैं, हजारों सखियों से परिवेष्टित हैं और सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं। निम्बार्क ने राधा को स्वकीया और विवाहिता माना है। परन्तु यह अवतार-लीला के विषय में ही सत्य है, नित्य लीला में तो स्वकीया और परकीया में भेद नहीं रहता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जहाँ तक निम्बार्क सम्प्रदाय की भक्ति-साधना का शरणागति अथवा प्रपत्ति से सम्बन्ध है, वह भी रामानुज की भक्ति से मिलती-जुलती है। किन्तु इसमें एक अन्तर दीख पड़ता है। जहाँ रामानुजाचार्य ने भक्ति भाव को उपनिषदों में विहित उपासना की कोटि तक पहुँचा दिया और उसके मौलिक रूप को बदल दिया, वहाँ श्री निम्बार्क ने भक्ति के सहज मूल भाव को सुरक्षित रखने की चेष्टा की है। रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य के सिद्धान्तों में एक और अन्तर यह है कि जहाँ रामानुज ने भक्ति को नारायण-लक्ष्मी, भू और नीला तक ही सीमित रखा—वहाँ निम्बार्क ने कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्टित राधा की उपासना की है। निम्बार्क संप्रदाय में प्रेम-लक्षणा-रागात्मिका परा भक्ति ही भक्ति-साधना का चरम लक्ष्य है। कह सकते हैं कि उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण-भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन करने का पूर्ण श्रेय श्री निम्बार्काचार्य को ही मिलना चाहिए।

श्री निम्बार्काचार्य की विचार-धारा आळ्वारों की विचार-धारा के बहुत निकट है। भक्ति और प्रपत्ति के विषय में तो दोनों में बहुत साम्य है। श्री निम्बार्क के समय तक आळ्वारों के भक्ति-सम्बन्धी विचार समस्त दक्षिण भारत में प्रचार पा चुके थे, कुछ रामानुज-सम्प्रदाय के माध्यम से और कुछ आळ्वारों के ग्रन्थों से। श्री निम्बार्काचार्य भी दक्षिण के ही थे। अतः बहुत संभव है कि आळ्वारों की विचार-धारा ने उन्हें प्रभावित किया हो। आळ्वारों की तथा श्री निम्बार्क की विचार-धाराओं में दीख पड़ने वाले साम्य को स्पष्ट करने के लिए एक स्वतन्त्र अध्ययन ही अपेक्षित है।

विष्णुस्वामी और उनका संप्रदाय

रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य के साथ दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में श्री विष्णुस्वामी का नाम भी उल्लेखनीय है, जो रुद्र-संप्रदाय के प्रवर्तक

मान जाते हैं। लेकिन खेद की बात है कि अभी तक विष्णुस्वामी के ऐतिहासिक अस्तित्व का न तो सम्यक् परिचय प्राप्त हो सका है और न उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विश्लेषण और विवेचन ही हुआ है। विष्णुस्वामी के व्यक्तित्व, उनके समय, उनके मत एवं सम्प्रदाय के विषय मे मत-भेद देखकर कभी-कभी एक से अधिक विष्णुस्वामियों की भी कल्पना की जाती है। इस प्रकार अब चार विष्णुस्वामियों का उल्लेख किया जाता है। एक विष्णुस्वामी तमिळ-प्रदेश के पाण्ड्य राजा के राजगुरु देवेश्वर भट्ट के पुत्र थे जिन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त सूत्रों पर "सर्वज्ञ सूक्त" नामक भाष्य लिखा था। इनका पूर्व-नाम देवनन्द भी बताया जाता है। दूसरे विष्णुस्वामी काँचीपुरम निवासी राजगोपाल विष्णुस्वामी थे जिन्होंने काँचीनगर में श्री वरदराज की मूर्ति की स्थापना की। इनके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने द्वारिका में रणछोड़जी तथा सप्त-नगरियों में से अन्य छः नगरियों में विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित कीं। प्रसिद्ध ग्रन्थ "श्रीकृष्ण कर्णामृत" के रचयिता लीलाशुक बिल्वमंगल को इन्हीं का शिष्य बताया जाता है। एक तीसरे विष्णुस्वामी का उल्लेख मिलता है जो वल्लभ-संप्रदाय के लोगों के विश्वास के अनुसार वल्लभाचार्य की गुरु परम्परा के एक प्राचीन आचार्य थे।[1] डा० दीनदयालु गुप्त ने "भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऐनल्स" में प्रकाशित एक लेख के आधार पर यह बताया है कि माधवाचार्य और सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे जिनका दूसरा नाम विष्णुस्वामी था।[2]

डा० भाण्डारकर ने विष्णुस्वामी का समय १३ वीं शताब्दी मे माना है।[3] प्रो० भट्ट ने कुछ प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि विष्णुस्वामी १०वीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे।[4] किन्तु फिर भी पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव मे विष्णुस्वामी के विषय में निश्चित् रूप से यह बताना कठिन है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य विष्णुस्वामी का आविर्भाव कब हुआ और कहाँ हुआ। एक जनश्रुति यह भी है कि महाराष्ट्र में प्रचार पाने वाला भागवत-धर्म जो कि आगे चलकर "वारकरी सम्प्रदाय" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसके अनुयायी ज्ञानदेव तथा नामदेव आदि भक्त थे, वस्तुतः विष्णुस्वामी मत का रूपान्तर ही था। इस सम्बन्ध मे नाभादास के निम्नलिखित प्रसिद्ध छप्पय का उल्लेख किया जाता है :—

---

१. प्रो० भट्ट श्री वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की शिष्य-परम्परा में नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—"...The connection between Vishunswami and Vallabhacharya cannot therefore be accepted as histosically and philosophically corrcet."—Prof. G. H. Bhatt, (8th Oriental Conference, Mysore.)

२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (भाग १), पृ० ४२।

3. *Vaishnavism, Saivism and Other Minor Religious Sects*, p. 77

4. "V *and Vallahabcharya.*" (7th All India Oriental Conference,)—Prof. G H. Bhatt, p 449

हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों को प्रभावित करने वाले उत्तर भारत के भक्ति-सम्प्रदाय

पिछले पृष्ठों में शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में दक्षिण में उत्पन्न चार दार्शनिक सम्प्रदायों और उनकी भक्ति-पद्धतियों का संक्षेप में परिचय दिया गया। यह भी दिखाया जा चुका है कि उक्त चार सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्यों ने तथा उनके अनुयायी अन्य वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव-भक्ति और तात्विक सिद्धान्तवाद की स्थापना कर शंकर के मायावाद और विवर्तवाद का खण्डन किया। इन लोगों ने अपने मत का मंडन और विपक्षी मत का खंडन करने के लिये प्राचीन ग्रन्थों पर भाष्य लिखने के साथ-साथ अनेक नवीन ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। यद्यपि इनकी दार्शनिक विचार-धाराओं में थोड़ी-बहुत भिन्नता थी, तो भी सब का उद्देश्य—भक्ति-मार्ग को प्रशस्त करना ही था। इन सम्प्रदायों के अनुयायी-भक्तों के द्वारा भक्ति का प्रचार दक्षिण में ही नहीं, बल्कि उत्तरी भारत में भी हुआ। इन वैष्णव-आचार्यों के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर ईसा की १४ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी के अंत तक उत्तर भारत में कुछ अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय भी पनपे जिनके द्वारा वैष्णव-भक्ति का व्यापक प्रचार समस्त उत्तरी भारत में हुआ। अपनी मधुर भावनापूर्ण विश्व-जनीन तत्व-राशि के कारण उस समय राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति का स्वर अधिक ऊँचा हो उठा था। इसका श्रेय कृष्ण भक्ति के प्रचारक भावुक वैष्णव आचार्यों को है। मध्यकाल में रामानन्द के उपरान्त राम-भक्ति का प्रचारक कोई उतना समर्थ वैष्णव आचार्य नहीं हुआ। इसके विपरीत कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में श्री वल्लभाचार्य, श्री चैतन्य आदि आचार्यों ने अभूतपूर्व कार्य किया। इस काल में उपास्य-देव कृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप को लेकर पनपने वाले सम्प्रदायों में निम्नलिखित चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं :—

१—वल्लभ-सम्प्रदाय,

२—चैतन्य-सम्प्रदाय,

३—राधावल्लभ-सम्प्रदाय, और

४—हरिदासी सम्प्रदाय या सखी-सम्प्रदाय।

कृष्णोपासना को पहले ही श्री मध्व, श्री विष्णुस्वामी, श्री निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपनाया था। किन्तु उनके उपास्य-देव कृष्ण के रूपों में अन्तर था। मध्वाचार्य के कृष्ण स्वयं विष्णु थे जो सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा थे। विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप को स्वीकार किया था। निम्बार्क ने अपनी उपासना में राधा-तत्व का भी समावेश कर राधा-कृष्ण के युगल-रूप को अपनाया था। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में मनोवेग के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। अतएव आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपना कर श्री वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा में मोड़ दिया। यद्यपि इन दोनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का न्यूनाधिक रूप से अनुसरण

किया था तो भी अपने-अपने मत विशेष के कारण अपनी पूजा-पद्धति और भजन-कीर्तनों के द्वारा कृष्णोपासना को व्यापक रूप देते हुए वैष्णव धर्म को जन-समाज के अत्यन्त निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया। इन दोनों ने अपने राधावल्लभ अथवा गोपी-वल्लभ कृष्ण की उपासना द्वारा वैष्णव धर्म में नूतन शक्ति का संचार किया और समस्त उत्तरी भारत की जनता पर अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप डाली।

जिस समय व्रजभूमि में श्री चैतन्य और श्री वल्लभ मत के भक्तों ने अपने-अपने साधना मार्ग का प्रचार प्रारम्भ किया, लगभग उसी समय राधा-कृष्ण की युगल-उपासना का एक दूसरा भक्ति-प्रधान सम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ जो 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी समय एक अन्य सम्प्रदाय का भी उदय हुआ जिसमें राधाकृष्ण की युगल उपासना का सखी-भाव से प्रचार था। इस सम्प्रदाय का नाम 'सखी सम्प्रदाय' पड़ा। उपर्युक्त चार सम्प्रदायों के अन्तर्गत भक्त-कवियों द्वारा हिन्दी में कृष्ण-भक्ति के विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। इन चार प्रमुख सम्प्रदायों और उनकी भक्ति-पद्धतियों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है। यथा :—

१. वल्लभाचार्य और उनका सम्प्रदाय

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सन् १४७८ ई० में हुआ। इनके जीवन-चरित का विस्तृत परिचय 'वल्लभ दिग्विजय' में मिलता है। श्री वल्लभ लक्ष्मण भट्ट नामक तैलंग ब्राह्मण के पुत्र थे जो आन्ध्र प्रदेश के काँकरवाड़ नामक स्थान के निवासी थे। श्री वल्लभ की माता का नाम इल्लमागारू था। श्री लक्ष्मण भट्ट अधिकतर काशी में ही रहा करते थे। अतः वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन काशी में ही हुए थे। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी ने १० वर्ष की आयु में ही वेद, वेदांग, दर्शन, तथा पुराणों का अध्ययन कर लिया था और वे काशी में प्रसिद्ध हो गये। अपने पिता के निधन के पश्चात् उन्होंने अनेक प्रधान तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ करके मायावाद का खण्डन और ब्रह्मवाद मत का प्रचार किया। तीर्थाटन में वे दक्षिण की ओर भी गये थे। इस यात्रा में उन्होंने दक्षिण के वैष्णव-आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन किया। यह प्रसिद्ध है कि कर्नाटक के विजय नगर साम्राज्य की राजधानी में वल्लभ ने माध्व मतावलम्बी आचार्य व्यासराय के सभापतित्व में आयोजित सभा में शास्त्रार्थ किया था और युक्ति-युक्त तर्कों से उस सभा में उपस्थित शास्त्रियों के उठाये गये प्रश्नों का समाधान कर उन्हें परास्त किया था और आचार्य की पदवी प्राप्त की। इस विजय पर प्रसन्न होकर राजा कृष्णदेव राय ने श्री वल्लभाचार्य जी का 'कनकाभिषेक' कर स्वागत किया।

भारतवर्ष के प्रधान तीर्थों में भ्रमण करने के उपरान्त आचार्य ने कभी वृन्दावन, कभी मथुरा और कभी काशी में रहकर अपने भक्ति सिद्धान्तों का प्रचार किया। कहा जाता है कि जी की प्रथम व्रज-यात्रा के समय गोवर्धन की

गिरिराज पहाड़ी पर एक भगवद् स्वरूप का प्राकट्य हुआ था, 'देवदमन' नाम से जिसकी अर्चा ब्रजवासी लोग अनन्य श्रद्धा और भक्ति के साथ करते थे। और अपनी दूसरी यात्रा में जब वे पुनः गोवर्धन पहुँचे तो ब्रजवासियो ने उनको उक्त स्वरूप के दर्शन कराये। वल्लभाचार्य ने उस स्वरूप का नाम "श्रीनाथ जी" या "गोवर्धननाथ" रखा। उन्हीं प्रेरणा से उन्होने श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया और भागवान् की सेवा-विधि स्थिर की। अन्त में एक बार वे काशी गये और वहीं रहते हुए सन् १५३० मे उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के हेतु अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थो का भी निर्माण किया था और "वल्लभ दिग्विजय" के अनुसार उनके ३५ ग्रन्थ कहे जाते हैं। परन्तु अभी तक केवल छोटे-बड़े ३० ग्रन्थ ही उपलब्ध हुए हैं, जो वल्लभ-संप्रदाय मे प्रसिद्ध हैं। उनके लिखे १६ लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ 'षोडश-ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थों में प्रमुख हैं—ब्रह्मसूत्र पर लिखा हुआ 'अणु भाष्य', पूर्व मीमांसा भाष्य, तत्पदीप निबन्ध, भागवत की व्याख्या-सुबोधिनी आदि।

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त "शुद्धाद्वैत" के नाम से प्रसिद्ध है। "शुद्धाद्वैत मार्तण्ड" में 'शुद्ध' का अर्थ 'माया सम्बन्ध रहित' दिया गया है। वल्लभाचार्य ने शंकर के 'अद्वैत' से भिन्नता दिखाने के लिए ही 'अद्वैत' के साथ 'शुद्ध' शब्द जोड़ दिया। शंकर ने अद्वैत में माया-शबलित-ब्रह्म को जगत् का कारण माना। पर वल्लभ ने माया से अलिप्त नितांत शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है।[1] वल्लभाचार्य का यह शुद्धाद्वैतवाद "ब्रह्मवाद" या "अविकृत परिणामवाद" नाम से भी प्रसिद्ध है।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म सत्, चित और आनन्द स्वरूप है। वह व्यापक है और सर्वशक्तिमान है। वह स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है और गुणों से वर्जित है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के सगुण और निर्गुण—दोनों रूप नित्य हैं। जो ब्रह्म अणोरणीयान् है वह महेता महीयान् भी है। पर ब्रह्म एक होकर भी अनेक है और स्वतन्त्र होकर भी भक्तों के अधीन है। ब्रह्म के तीन प्रकार माने गये हैं—(१) आधि दैविक ब्रह्म, (२) आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर ब्रह्म, और (३) आधि भौतिक अर्थात् जगत् रूपी परब्रह्म।

जगत् सत्य है क्योंकि लीलानायक भगवान् स्वयं जगत् के रूप में फैला हुआ है। ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य। जब कारण सत्य है तो कार्य भी सत्य है। वल्लभ ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध को लपेटे गये वस्त्र से समझाया है। जिस प्रकार वस्त्र को फैलाने पर वस्त्र नहीं रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म जगत् के रूप में फैला है और प्रलय काल में वही वस्त्र सिमटकर 'कारण' ब्रह्म के रूप में सूक्ष्म रूप में हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म का आविर्भाव जगत् के रूप में होता है और तिरोभाव की अवस्था

---

१. माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
——— कार्यं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम्॥

—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, २८

में केवल ब्रह्म ही रह जाता है। अक्षर ब्रह्म ज्ञान से प्राप्त होता है, परन्तु परब्रह्म पुरुषोत्तम केवल अनन्य भक्ति से ही मिलता है। ज्ञान से पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं होती। 'अक्षर ब्रह्म' के आनन्द को वल्लभ 'गणितानन्द' कहते हैं। अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तम (पर ब्रह्म) के आनन्द में 'मात्रा' का अन्तर है। रस रूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म के अप्राकृत धर्मों में प्रमुख हैं: ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।

जैसे कि ऊपर कहा गया, वल्लभ के अनुसार जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी प्रकार जगत् और जीव भी सत्य हैं। डा० [illegible] ने वल्लभ मत के ब्रह्म-जीव-जगत् सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि परमात्मा ने एकाकी रूप में पूर्णतः प्रसन्न न रहकर अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा तथा अन्तर्यामी आत्मा में विभाजित किया और ये तीनों उसमें क्रमशः जलती हुई अग्नि की चिनगारियों की भांति निकले, परमात्मा की इच्छा से ही प्रकृति में चित् एवं आनन्द तथा जीवात्मा में केवल आनन्द का अभाव और तीसरे में ये तीनों पूर्ण रूप में वर्तमान हैं। भगवान् को जब रमण करने की इच्छा होती है, तब वह अपने आनन्द आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप धारण करता है। इस व्यापार में केवल भगवान् की इच्छा ही प्रधान है, माया का जरा भी सम्बन्ध नहीं रहता। जीव ज्ञाता, ज्ञातृत्व और अणु होता है। सच्चिदानन्द भगवान् के अविकृत सत् अंश से जड़ का निर्गमन होता है और अविकृत चित् अंश से जीव का आविर्भाव। इस मत में ईश्वर को विरुद्ध धर्मों का आधार कहा गया है। वह निर्गुण भी है और सगुण भी। निर्धर्मक है और सधर्मक भी। जो ब्रह्म मन और वाणी से परे है वह स्वयं ही, कृपा भाव से अपनी इच्छा मात्र से गोचर और गम्य हो सकता है।

वल्लभ मत में जीव तीन प्रकार के हैं—(१) शुद्ध, (२) मुक्त, और (३) संसारी। यथा, श्री भगवान् के तिरोधान के पूर्व जीव शुद्ध रहता है। ये दैव और आसुर—दो प्रकार के होते हैं। दैव जीव भी मर्यादा और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिमार्गीय सेवा में भगवान् का [illegible] अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है, तब उनमें तिरोहित आनन्द के अंशों का प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्तावस्था में जीव स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। [illegible] जीव भी ब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है, जैसे सोने से बने आभूषण सोने से अभिन्न हैं। उसी प्रकार जीव व ब्रह्म अभिन्न हैं।

वल्लभ जगत् को नित्य मानते हैं। उसकी उत्पत्ति व विनाश नहीं होता, केवल आविर्भाव व तिरोभाव होता है। वल्लभ जगत् और संसार में अन्तर मानते हैं। यह एक सर्वथा नवीन विचार है। उनके अनुसार ईश्वर की इच्छा से ईश्वर के केवल सत् अंश का विस्तार—जगत् है। परन्तु संसार अविद्या के कारण ममता जन्य पदार्थ है। संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। कांचन, कामिनी, वैभव, [illegible]

सब संसार है। लेकिन सृष्टि का अनादि प्रवाह 'जगत्' है, जो नित्य पदार्थ है। ज्ञान के उदय होने पर ममतामय संसार का नाश होता है।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार अखिल रसामृत मूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। रस रूप में होने के कारण वह मधुर लीलायें भी करते हैं, जिनमे सम्मिलित होना ही 'आनन्द-प्राप्ति' है। इसलिए कृष्ण के दो रूप है—(१) लोक-वेद कथित पुरुषोत्तम, और (२) लोक-वेदातीत पुरुषोत्तम। श्रीकृष्ण अपनी आनन्द शक्तियों से परिवेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ व्यापी वैकुण्ठ मे नित्य लीला करते हैं। यह लोक विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर स्थित है और गोलोक भी इसी वैकुण्ठ का एक अंश मात्र है। भगवान् मे अनन्त शक्तियाँ हैं जिनमें श्री, पुष्टि, गिरा, कान्त्या, श्री स्वामिनी, चन्द्रावली, राधा, यमुना आदि १२ प्रधान है। क्रीडा के हेतु भगवान् का समग्र परिवार इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। तब व्यापी वैकुण्ठ ही गोकुल के के रूप में विराजता है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार कृष्ण की प्राप्ति ही मुक्ति है। इस मुक्ति की प्राप्ति के लिए वे निवृत्ति-मार्ग से प्रवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ मानते हैं।

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद भक्ति-साधना-मार्ग मे 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। पुष्टि या पोषण भगवान् के अनुग्रह को कहते है।[1] जीव जब तक भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि को प्राप्त कर नहीं पाता तब तक उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधन-मार्ग तीन प्रकार के हैं—(१) आधि भौतिक—कर्म-मार्ग है, (२) आध्यात्मिक—ज्ञान-मार्ग है, और (३) परम मार्ग—भक्ति-मार्ग है जो पुष्टि-मार्ग कहलाता है। ज्ञान-मार्ग से अक्षर ब्रह्म प्राप्त हो सकता है, पुरुषोत्तम की प्राप्ति तो परम-मार्ग अर्थात् 'पुष्टि-मार्ग' से ही होती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के चार भेद हैं :—

१—मर्यादा पुष्टि-भक्ति, ३—पुष्टि पुष्ट-भक्ति,
२—प्रवाह पुष्टि-भक्ति, ४—शुद्ध पुष्टि-भक्ति।

मर्यादा पुष्टि-भक्ति में भक्त भगवान् के गुणों का जानता हुआ भक्ति करता है। प्रवाह पुष्टि में भक्त कर्म में विशेष रुचि रखता है। पुष्टि पुष्ट-भक्ति में भक्त स्नेह-सम्पन्न हो जाता है। शुद्ध पुष्टि-भक्ति मे पूर्ण प्रेमपूर्वक हरि की परिचर्या करता हुआ गुण-श्रवण, ध्यान आदि में दत्तचित्त रहता है। भजन, पूजन आदि साधनों के द्वारा जो भक्ति प्राप्त होती है, वह मर्यादा भक्ति है। किन्तु जो भक्ति बिना किसी साधन के भगवान् के अनुग्रह मात्र से स्वतः उदित होती है, जिसमे जीवों पर दया कर भगवान् अपने अनुग्रह को प्रकट करते हैं वह पुष्टि-भक्ति कहलाती है। यह रागात्मिका भक्ति (प्रेम लक्षणा) है। भगवान् का जिस पर अनुग्रह होता है उसे पहले भगवान् की ओर प्रवृत्ति होती है, भगवान् अच्छे लगते हैं। तदुपरान्त वह भगवान् के स्वरूप-

---

१ 'पोषणं तदनुग्रहः'—भागवत अ० २।१०।

जो लोक को अनुसरण करने से प्राप्त होते है तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कार्यों के सम्पादन द्वारा कही गयी है। यह तभी हो सकता है जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणों मे समर्पित कर दे। इस समर्पण से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि मे प्रवेश हो जाने पर अन्त।''[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि वल्लभाचार्य ने प्रवृत्ति-मार्ग को ही निवृत्ति-मार्ग से श्रेष्ठ माना था। वे गृहस्थ थे। उनके गोपीनाथ एव विट्ठलनाथ नामक दो पुत्र भी हुए। श्री वल्लभ जी का देहान्त होने पर श्री विट्ठलनाथ उनकी गद्दी पर बैठे। श्री विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के प्रचार के लिये अनेक प्रयत्न किये।

पुष्टि-मार्ग के अन्तर्गत अनेक भक्त-कवियो ने हिन्दी में कृष्ण-भक्ति के विपुल साहित्य का निर्माण किया। 'अष्टछाप' पुष्टि-मार्ग की महत्वपूर्ण देन है, जिसके कवियों ने श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं को लेकर भजन-कीर्तन रचकर हिन्दी के भक्ति-साहित्य के भण्डार को भर दिया। उनके द्वारा उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन में नयी स्फूर्ति का सचार हुआ।

२. चैतन्य महाप्रभु और गौड़ीय संप्रदाय

समस्त उत्तरी भारत को, विशेषतः बंगाल को भक्ति-रस से आप्लावित करने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है। आप भक्ति-रस की सजीव मूर्ति थे और थे—उदात्त मधुर भाव का जाज्वल्यमान प्रतीक। चैतन्य महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के समकालीन थे। श्री चैतन्य का जन्म सन् १४८५ मे बगाल के नदिया (शातिपुर) नामक स्थान मे हुआ। इनका जन्म का नाम विश्वम्भर था, बाद मे वे अपने अनुयायियों द्वारा कृष्ण-चैतन्य कहे जाने लगे। बहुत गौर वर्ण के होने के कारण इनका नाम गौराग भी पड़ा। अपनी १८ वर्ष की अवस्था में विवाह करके अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। इस समय इनका मुख्य कार्य गम्भीर अध्ययन और अध्यापन था। इन्होंने समस्त शास्त्रो में, विशेषकर तर्कशास्त्र मे निपुणता प्राप्त की। इनकी प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया। अतः दूसरा विवाह कर एक समय पितरों की श्राद्ध-क्रिया करने गया-धाम पधारे। वहाँ 'ईश्वरपुरी' नामक एक प्रसिद्ध वैष्णव से उन्होने भेंट की। कहा जाता है कि चैतन्य देव ईश्वरपुरी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए और वहीं संन्यास लेने का संकल्प लेकर लौटने पर घर-बार त्याग दिया। इनमे बहुत परिवर्तन आ गया। इसके विचार बदल गये। इन्होंने कर्मकाण्ड की कड़ी आलोचना की। मोक्ष के लिए हरिनाम-स्मरण और कीर्तन को एक मात्र साधन बतलाकर इन्होंने वर्णव्यवस्था को व्यर्थ बतलाया। इनकी इस नवीन विचार-धारा के समर्थक और इनके सहयोगी इनके शिष्य नित्यानन्द थे जिन्हे वे भाई के समान मानते थे। ये पहले घर मे कीर्तन-भजन करते थे और प्रेम में मस्त होकर नाचा करते थे। इनकी आंखो से प्रेमाश्रु की अविरल धारा बहा करती थी।

---

१ सूरदास प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०१, १०२

चैतन्य देव ने भारतवर्ष के प्रमुख तीर्थों में भ्रमण किया। वे दक्षिण भारत में, विशेषकर तमिळ-प्रदेश के वैष्णव तीर्थों में भी गये।[1] बहुत सम्भव है कि तमिळ-प्रदेश की अपनी यात्रा में वे भावुक भक्त-कवि आळवारों की रचनाओं से परिचित और प्रभावित हुए हों। श्री डी० एन० गांगुली ने लिखा है कि चैतन्य नम्माळ्वार के जन्म स्थान "आळवार तिरुनगरी" में जाकर उनके गद्य पद्यों की हस्तलिखित प्रतियाँ अपने साथ ले गये।[2] फिर वे पुरी आदि प्रसिद्ध स्थानों में कई वर्षों तक भ्रमण करते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। यह प्रसिद्ध है कि श्री चैतन्य अपने अन्तिम दिनों में कृष्ण की भक्ति में इस प्रकार भावावेश में आते थे कि वे मूर्छित हो जाते थे। इनका गोलोक-गमन सन् १५३३ में हुआ।

श्री चैतन्य के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने अन्य आचार्यों की भाँति अपने संप्रदाय को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास नहीं किया और न उन्होंने "प्रस्थान त्रयी" पर कोई भाष्य ही प्रस्तुत किया। वे सदैव कृष्ण की मधुर-भाव की भक्ति में इस तरह भाव मग्न रहते थे कि भक्ति धर्म के शास्त्रीय स्पष्टीकरण के लिए किसी ग्रन्थ की रचना करना उनके लिए संभव ही नहीं था। उनके रचित केवल दश श्लोक ही उपलब्ध हैं। इसी कारण उनके सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित रूप उनके अनुयायी पंडितों द्वारा आगे चलकर प्रस्तुत किया गया।

जिस समय चैतन्य का आविर्भाव हुआ था, उस समय बंगाल में विष्णु-भक्ति का बहुत कम प्रचार था और काली-पूजा और शाक्तों की प्रबलता थी। इस परिस्थिति की प्रतिक्रिया चैतन्य पर गहरी पड़ी थी। इसके अलावा जिस वातावरण में चैतन्य का पिछला जीवन व्यतीत हुआ, उस पर जयदेव, बिल्वमंगल, चंडीदास और विद्यापति जैसे भक्तों और कवियों का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा था। इन सब के सम्मिश्रण से चैतन्य के ऊपर प्रेममय कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ शृङ्गारिक भक्ति का रंग चढ़ गया था। भगवान् का नाम संकीर्तन चैतन्य का अत्यन्त प्रिय साधन था, जिसके द्वारा जन-साधारण को अपने आन्दोलन के प्रति आकृष्ट करने में वे सफल हुए। फलतः उनके शिष्यों की एक बड़ी मंडली संगठित हुई जिनमें प्रधानतः नित्यानन्द और अद्वैताचार्य नाम के दो महात्मा थे। ये दोनों अनन्य भक्त ही नहीं, बल्कि प्रगाढ़ शास्त्र-वेत्ता भी थे। वैष्णव-धर्म को लोकप्रिय बनाने के हेतु नित्यानन्द ने तो सब के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। चैतन्य की शिष्य परम्परा में छः भक्तों का विशिष्ट स्थान है, जो "षट् गोस्वामी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गोस्वामियों ने

---

1. "He visited all the shrines of Tamil Country and also Conjeepuram, Sri Rangam, Madura, Siyali, Kumba Konam, and Tanjore."—"Sri Chaitanya Maha-prabhu"—Tritavda Bhikshu : *Bhakti Pradipa Tirtha*, p. 79.
2. "*The Life of Sri Gouranga*"—Sri. D N Ganguli, p. 45

[illegible] पृ० ४१ से [illegible])

वृन्दावन को चैतन्य मत के प्रचार का केन्द्र बनाया। वृन्दावन मे रहते हुए चैतन्य-संप्रदाय की भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने के हेतु इन गोस्वामियो ने महत्व-पूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनके तीन के नाम उल्लेखनीय हैं। वे हैं—रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी। रूप गोस्वामी के लिखे "भक्ति-रसामृत-सिन्धु", "उज्ज्वल नील मणि" और "लघु भागवतामृत" भक्ति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। सनातन गोस्वामी के "श्रीमद् भागवत, दशम स्कन्ध की टीका" तथा "बृहद्भागवतामृत" और जीव गोस्वामी के "षट्संदर्भ" तथा "गोपाल-चम्पू" आदि भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

चैतन्य मत "अचिन्त्य भेदाभेद" कहलाता है। कुछ लोग चैतन्य-संप्रदाय को माध्व-संप्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं। इस सम्बन्ध मे डा० सुशील कुमार डे ने अपने "वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल" ग्रन्थ में बड़ी निष्पक्ष दृष्टि से तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार माध्व-संप्रदाय और चैतन्य-संप्रदाय में दार्शनिक धरातल पर एकता नहीं है।[1] यह स्वीकार करना पड़ेगा कि माध्व मत की शाखा होने पर भी चैतन्य मत का दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वथा स्वतन्त्र है। माध्व की मूल दृष्टि द्वैत की है। किन्तु चैतन्य मत "अचिन्त्य भेदाभेद" है। चैतन्य मत में परम तत्व स्वयं श्रीकृष्ण हैं। यह सत् सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त शक्ति से पूर्ण है तथा अनादि है। शक्ति और शक्तिमान में न तो परस्पर भेद है और न अभेद ही। इन दोनों का सम्बन्ध तर्कों के द्वारा अचिन्त्य है। अतः यह सिद्धान्त "अचिन्त्य भेदाभेद" की संज्ञा से अभिहित है। इस सम्बन्ध में रूप गोस्वामी ने अपने "लघु भागवतामृत" में लिखा है—

एकत्वं च पृथक्त्वं च तथांशत्वमुतांशिता।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानंतशक्तितः॥ १।५०॥

श्री रूप गोस्वामी का कहना है—"श्रीकृष्ण में अनन्त गुण हैं, वे असंख्य अप्राकृत गुणगणों और अपरिमित शक्ति से सम्पन्न हैं और पूर्णानन्द घन उनका विग्रह है। जो ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष और अमूर्त कहा गया है वह सूर्य-तुल्य श्रीकृष्ण के प्रकाश-तुल्य है।"[2]

श्रीकृष्ण की अनन्त शक्ति जब प्रकट है, तब उसे भगवान् कहते हैं, अन्यथा वह ब्रह्म कहलाता है। जब उसकी शक्ति कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट होती है, तब वह परमात्मा कहलाता है। ब्रह्म विशुद्ध ज्ञान का विषय है। परमात्मा योग का लक्ष्य है। परन्तु भगवान् का साक्षात्कार भक्ति से ही संभव है। परब्रह्म के तीन रूप माने गये है—(१) स्वयं रूप, (२) तदैकात्मक रूप, और (३) आवेश रूप। इन तीनों रूपों में कृष्ण

1. *Vaishnava Faith and Movement in Bengal*—Dr. S. R. De pp. 19-20

२. "लघु भागवतामृत"—श्लोक ५०, पृ० १२४, १२५।

ही स्वयं रूप हैं। उनके भी तीन रूप हैं—१. द्वारका रूप, २. मथुरा रूप, और ३. व्रजलीला रूप। ये तीनों रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। सर्वकारण रूप से वे अपनी अभिव्यक्ति दो रूप में करते हैं १. विलास रूप में, और २. स्वांश रूप में। जो रूप लीला-विशेष के लिए प्रकट होता है वह विलास रूप है। जब भगवान् अपने स्वयं रूप से अपनी थोड़ी शक्ति का प्रकाश करते हैं तब उनका वह अंश शक्ति स्वांश रूप होता है। जब वे कुछ मर्यादाओं के साथ विभिन्न जीवों में प्रकट होते हैं तब उनका 'आवेश' रूप कहलाता है। भगवान् के अवतार भी तीन प्रकार के हैं—

१. पुरुषावतार, २.—गुणावतार, और ३.—लीलावतार।

परब्रह्म का आदि अवतार—पुरुषावतार है जिसे 'वासुदेव' कहते हैं। पुरुषावतार वासुदेव के तीन भेद हैं—संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न। प्रकृति के तीन गुण—सत्, रज, तम—के अधिष्ठाता तीन गुणावतार हैं। वे हैं विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र। नारद सनकादि भगवान् के अंशावतार हैं और रामचन्द्र, बुद्ध, कल्कि आदि लीलावतार हैं।

अनन्त शक्ति सम्पन्न भगवान् कृष्ण की शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—अन्तरंग-शक्ति, बहिरंग शक्ति और तटस्थ शक्ति। भगवान् की अन्तरंग शक्ति स्वरूप शक्ति है जो सत्, चित् तथा आनन्द युक्त है। बहिरंग शक्ति माया कहलाती है जिससे जड़-जगत् का उद्भव होता है। माया भी दो प्रकार की है—जीव माया और गुण माया। अन्तरंग और बहिरंग दोनों शक्तियों के बीच की तटस्थ शक्ति से जीव का सम्बन्ध है। अन्तरंग शक्ति के भी तीन रूप हैं—संधिनी, संवित् और ह्लादिनी। संधिनी शक्ति के बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं। ह्लादिनी शक्ति के रूप में भगवान् स्वयं आनन्द स्वरूप हैं और दूसरों को आनन्द देते भी हैं।

भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है। और वह भक्ति, भगवान् की कृपा से ही मिलती है। भक्ति दो प्रकार है—वैधी तथा रागानुगा। वैधी भक्ति भगवान् के ऐश्वर्य का मार्ग है। इस भक्ति के अनुगामी जीव भगवान् के मथुरा, द्वारिका धाम में प्रवेश पाते हैं। रागानुगा-भक्ति का मार्ग माधुर्य भाव है। चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रसिद्ध भक्ति-ग्रन्थ 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में वैधी और रागानुगा भक्ति के स्वरूप पर बड़े विस्तार से लिखा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण की व्रजभूमि की लीला चार भावों से सम्बन्ध रखती है—सख्य, वात्सल्य, दास्य तथा माधुर्य। इन्हीं चार भावों से कृष्ण-चैतन्य संप्रदाय में प्रेम-भक्ति होती है। इन भावों में सब से अधिक उत्कर्ष माधुर्य-भाव का है, क्योंकि इस भाव के अन्तर्गत अन्य सभी भावों का भी समावेश है। प्रेम और आनन्द की शक्ति स्वरूपा गोपियों में राधा महाभाव स्वरूपा है।

मधुर भाव की रति तीन प्रकार की मानी जाती है—१.—साधारणी रति, २.—समंजसा रति, और ३.—समर्था रति। साधारणी रति का उदाहरण 'कुब्जा' है। समंजसा रति का दृष्टान्त 'रुक्मिणी, सत्यभामा' हैं। समर्था रति के उदाहरण 'व्रज-गोपियाँ' हैं। इस भाव को धारण कर भक्त भगवान् से प्रेम और उनकी सेवा, उनके **आनन्द के लिए करते हैं। इस भक्ति-भाव की साधना में किसी प्रकार के विधि-निषेध**

या शास्त्र-मर्यादा का ध्यान नहीं होता। यही भाव अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचकर 'महाभाव' या 'राधा-भाव' के रूप मे परिणत होता है।

चैतन्य मत मे रस-साधना ही प्रधान साधना है। स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य भगवान् कृष्ण के प्रेम मे इस तरह तन्मय हो जाते थे कि सारी सुधबुध खोकर उन्मत्त हो चीखने-चिल्लाने भी लग जाते थे। यही भक्ति 'राधा-भाव' की कहलाती थी अर्थात् वे स्वयं राधा स्वरूप होकर कृष्ण के प्रेम में 'महाभाव' का अनुभव करते थे। इसी कारण लोग चैतन्य को राधा के अवतार के रूप मे मानते थे। चैतन्य सम्प्रदाय की मधुर-भक्ति वल्लभ-संप्रदाय की मधुरा भक्ति से साम्य रखती है।

अन्य वैष्णव मतों की तरह चैतन्य-सम्प्रदाय मे भी सत्संग, नाम महिमा, भगवान् की लीला का कीर्तन, भजन, वृन्दावन वास, भागवत-श्रवण, गुरु-सेवा, तुलसी-पूजन आदि भक्ति के विभिन्न साधनों पर जोर दिया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चैतन्य मत मे भगवद्-भक्ति का द्वार समाज की सभी श्रेणियो के लोगों के लिए खुला है। इस कारण उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन मे श्री चैतन्य देव का महत्वपूर्ण योगदान है। इस संप्रदाय के अन्तर्गत अनेक भक्त-कवियों ने हिन्दी मे विशिष्ट कृष्ण-भक्ति-साहित्य का निर्माण किया और हिन्दी-भक्ति-साहित्य को समृद्ध किया है।

३. राधावल्लभीय संप्रदाय

ब्रजभूमि मे चैतन्य और वल्लभ-संप्रदायों के भक्तो ने अपने साधना-मार्ग का प्रचार प्रारम्भ किया था। सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में राधा-कृष्ण की युगल-उपासना को लेकर एक अन्य सम्प्रदाय ब्रजभूमि मे प्रचलित हुआ जो 'राधावल्लभीय संप्रदाय' कहलाया। इस संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश थे। श्री हितहरिवंश के विषय मे यह कहा जाता है कि वे प्रारम्भ में माध्व मतावलम्बी थे और बाद में उन्होंने निम्बार्क स्वामी की साधना-पद्धति का अनुकरण कर)अपना अलग भक्ति-संप्रदाय चलाया। श्री हितहरिवंश जी ने वृन्दावन में एक मन्दिर बनवाकर उसमें राधावल्लभ जी की मूर्ति भी स्थापित की। लगभग सन् १५३४ ई० मे उक्त मन्दिर के प्रथम 'पट-महोत्सव' के समय हितहरिवंश जी ने अपनी कृष्ण-भक्ति-पद्धति का सम्यक् प्रचार प्रारम्भ किया। उन्होंने अन्य आचार्यों की तरह अपने संप्रदाय के लिए न किसी दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया, न कर्म और ज्ञान के साधनो की आवश्यकता ही बतायी। उन्होंने राधा और कृष्ण की प्रेम और आनन्द-लीला के ध्यान और मनन मे तथा युगल-मूर्ति की पूजा में परमानन्द-प्राप्ति का साधन घोषित किया। उन्होंने कृष्ण से राधा की पूजा और भक्ति को अधिक महत्वपूर्ण बताया।

स्मरण रहे कि राधावल्लभीय सम्प्रदाय एक साधन-मार्ग था, तात्विक सिद्धांत की दृष्टि से वेदान्त के भिन्न-भिन्न वादों के अन्तर्गत आने वाला कोई 'वाद' नहीं था। हितहरिवंश के समकालीन भक्त नाभादास जी ने अपने 'भक्तमाल' में राधावल्लभीय सम्प्रदाय की पर प्रकाश डाला है उनका छप्पय इस प्रकार है

के मनन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे 'परम रस माधुरी-भाव' कहा गया है। राधा और कृष्ण का मिलन नित्य वृन्दावन मे सम्पन्न होने वाली नित्य-लीला है। वहाँ वियोग को कोई स्थान नहीं है। 'हरिवंशी' संप्रदाय वस्तुतः 'रस संप्रदाय' है। उसमें प्रेम-मूर्ति श्री राधा और कृष्ण के नित्य मिलन के अवसर पर साधक तन्मय भाव से उनकी सेवाओं में लगा रहता है।

संप्रदाय-प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंश स्वयं श्रेष्ठ कवि थे और उनके पश्चात् इस संप्रदाय के अन्तर्गत अनेक भक्त-कवि हुए जिन्होंने अनेक भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की रचना की। इस संप्रदाय के कुछ भक्त-कवियों ने ब्रजभाषा में विपुल भक्ति-साहित्य का सर्जन किया है।

४. हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय

सोलहवीं शती मे राधा-कृष्ण की युगल-उपासना को लेकर एक और सम्प्रदाय प्रचलित हुआ जो 'सखी सम्प्रदाय' कहलाया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास जी थे, जिनके नाम पर उक्त भक्ति-सम्प्रदाय को 'हरिदासी सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह मत निम्बार्क-सम्प्रदाय की ही एक शाखा है। श्री स्वामी हरिदास जी प्रारम्भ में निम्बार्क मत के अनुयायी थे और बाद में उन्होंने गोपी-भाव को भगवत्प्राप्ति का एक मात्र साधन मानकर अपनी साधना-पद्धति की प्रतिष्ठा की। श्री हरिदास जी ने आरम्भिक काल में अपने सम्प्रदाय को वेदान्त के किसी वाद का अथवा अन्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए माध्यम नहीं बनाया था। उनका एक मात्र उद्देश्य राधाकृष्ण की युगल-उपासना का सखी-भाव से प्रचार करना था। बताया जाता है कि वृन्दावन मे श्री स्वामी जी के समय में ही बिहारी जी का मन्दिर बनवाया गया था।

स्वामी जी के समकालीन भक्त नाभादास ने उनकी भक्ति-पद्धति का परिचय देते हुए लिखा है—

> "आसधीर उद्योत कर 'रसिक' छाप हरिदास की।
> जुगल नाम सौं नेम जपत नित कुंज बिहारी॥
> अवलोकन रहे केलि सखी सुख को अधिकारी।
> गान - कला - गन्धर्व स्याम - स्यामा कों तोषें॥
> ...."

नाभादास जी के कथन से यह विदित होता है कि स्वामी जी गानकला मे निष्णात थे और अपने सुमधुर भजनों द्वारा श्यामा-श्याम की स्तुति किया करते थे। स्वामी जी की रची हुई 'केलिभक्त' नामक पदावली विख्यात है जिसमे अन्तरंग के मधुरतम भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने सखी सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय से पृथक् माना है। वे लिखते हैं—"कहा जाता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुसरण करके श्री स्वामी हरिदास जी ने अपना चलाया किन्तु सखी की

द्वितीय अध्याय

"कवि और काव्य"

तमिल् के कृष्ण-भक्त-कवि : आल्वार

तमिळ में 'आळवार' शब्द अब साधारणतया उन द्वादश वैष्णव भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके पद 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। 'प्रबन्धम्' में कहीं भी 'आळवार' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल एक स्थान[1] पर यह शब्द आया है, परन्तु वैष्णव-भक्त के अर्थ में नहीं। नम्माळवार की रचनाओं मे 'वैष्णव भक्त' के लिए 'अडियार' अथवा 'भगवर' शब्द ही मिलता है।[2] वस्तुत. 'आळवार' शब्द उन भक्त कवियों के जीवन-काल के पश्चात् ही प्रयोग में आया। इसका प्रथम प्रयोग श्री रामानुजाचार्य के समय में श्री पिल्लान द्वारा 'प्रबन्धम्' पर लिखी गई टीका में मिलता है।

'आळवार' शब्द का एक अर्थ 'मग्न होना' है। इस अर्थ में यह शब्द किसी भी ऐसे सन्त महात्मा के लिए प्रयुक्त हो सकता है, जिसने आध्यात्मिक ज्ञान रूपी सागर में गोता लगाया हो।[3] कुछ शिलालेखों से पता चलता है कि प्रारम्भ में यह शब्द केवल वैष्णव भक्तों के लिए न होकर, शैव,[4] जैन-भक्तों तथा भगवान् बुद्ध[5] के लिए प्रयुक्त होता था। 'आळवार' शब्द का एक दूसरा अर्थ 'शासन करने वाला' भी है (आळदल- शासन करना)। अतः 'आळवार' शब्द से आशय उस व्यक्ति से है जो

१. नानमुखन तिरुवन्तादि, पद संख्या १४।

२. तिरुवायमोळी, ५।२।६।

3. "The word 'Alvar' has peculiar significance of its own. It means one who has sunk into the depths of his existence or one who is lost in a rapturous devotion to the Lord. It is a word quite descriptive of all god-intoxicated men."

—*Grains of Gold* : R. S. Desikan, p. 6.

4. *South Indian Inscriptions*, Vol. III, p. 102.

५. नीलकेशी, मोक्षकला, ८२ टीका।

आदि विद्वानों ने विभिन्न स्रोतों से आधार लेकर आळवारों के जीवन-काल निश्चित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उनमें पर्याप्त मतभेद है। जो मत अधिक समीचीन तथा तर्क-पुष्ट दीख पड़ता है, उसी को यहाँ लिया गया है। अधिकांश विद्वान् आळवारों का काल सामान्य रूप से चौथी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक मानते हैं। पाश्चात्य विद्वान् डा० काल्डवेल की धारणा कि आळवार रामानुज के शिष्य थे तथा उनके परवर्ती थे,[1] आधुनिक विद्वानों द्वारा अब पूर्णतया निरर्थक और भ्रान्त सिद्ध कर दी गई है।

आळवारों का क्रम और संख्या

हमारे सामने एक अन्य कठिनाई और भी उपस्थित है। वह यह कि वस्तुतः आळवारों का क्रम किस प्रकार निर्धारित था और उनकी संख्या क्या थी ? आळवारों की संख्या साधारणतः १२ मानी जाती है। श्री रामानुजाचार्य के शिष्य श्री पिल्लान ने गुरु के आदेश पर 'दिव्य प्रबन्धम्' के पदों पर टीका तथा उनका सम्पादन करते समय एक संस्कृत श्लोक[2] द्वारा आळवारों के नामों की गणना कर उनका क्रम निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इस श्लोक में दिये हुए क्रम के अनुसार आळवारों का क्रम इस प्रकार है :—

भूतत्ताळवार, पोयगै आळवार, पेयाळवार, पेरियाळवार, तिरुमलिसई आळवार, कुलशेखराळवार, तिरुप्पान आळवार, तोंडरडीपोडी आळवार, तिरुमंगै आळवार, मधुर कवि आळवार तथा नम्माळवार। ये नाम संख्या में केवल ११ ही आते हैं और आंडाळ को इनमें सम्मिलित नहीं किया गया है। श्री रामानुजाचार्य के एक दूसरे शिष्य श्रीरंगमवासी अमुदन ने 'दिव्य प्रबन्धम्' का सम्पादन करते समय आळवारों के नाम एक भिन्न क्रम से गिनाये हैं और उनकी सूची में मधुरकवि आळवार का नाम नहीं है। इसलिए डा० कृष्णस्वामी अय्यंगार ने विभिन्न क्रमों तथा सूचियों की पारस्परिक तुलना करके निष्कर्ष निकाला है कि उनमें दीख पड़ने वाली भिन्नता केवल श्लोक-रचना की कठिनाई अथवा लिखने के विशिष्ट उद्देश्य के कारण ही आ गई है।[3] अब, श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने आळवारों का जो क्रम तथा नामों की सूची दी है, उसे कोई अन्य अधिक प्रामाणिक आधार न मिल सकने के कारण सर्वसम्मत समझा जाता है। वह इस प्रकार है[4] :—

1. *Early History of Vaishnavism in South India*, p. 4.
२. भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ, श्री भक्तिसार कुलशेखर योगिवाहन्।
भक्तांघ्रिरेणु परकाल यतीन्द्रु मिश्रान् श्री मत्परांकुश मुनि प्रणतोऽस्मिनित्यम्॥
3. *Early History of Vaishnavism in South India*, pp. 37-38
४. डा० आर० जी० भाण्डारकर ने भी इसी को उद्धृत किया है।
वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलिजियस सेक्टस पृ० ६६

तमिऴ नाम	संस्कृत नाम
१. पोयगै आऴ्वार	१. सरोयोगी
२. भूतत्ताऴ्वार	२. भूतयोगी
३. पेयाऴ्वार	३. महद्योगी या भ्रान्त योगी
४. तिरुमऴिसै आऴ्वार	४. भक्तिसार
५. नम्माऴ्वार	५. शठकोप
६. मधुरकवि आऴ्वार	६. मधुर कवि
७. कुलशेखराऴ्वार	७. कुलशेखर
८. पेरियाऴ्वार	८. विष्णुचित्त
९. आण्डाळ	९. गोदा
१०. तोण्डरडिप्पोडि आऴ्वार	१०. भक्तांघ्रिरेणु
११. तिरुप्पाण आऴ्वार	११. योगिवाहन
१२. तिरुमंगै आऴ्वार	१२. परकाल

इस क्रम के आधार पर प्रथम चार को प्राचीन, बाद के पाँच को मध्य तथा शेष तीन को अन्तिम काल का मानने की परिपाटी भी चली आती है। ये सभी आऴ्वार तमिऴ-भाषी थे और इनकी रचनाओं में इनके तमिऴ नाम ही मिलते हैं। अतः ये तमिऴ-प्रदेश में अपने तमिऴ-नामों से ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

'नालायिर दिव्य-प्रबन्धम्'

आऴ्वारों की रचनाएँ उनके जीवन-काल में संगृहीत नहीं हुई थीं। इनकी रचनाओं के जो नाम आज मिलते हैं, वे आऴ्वारों के अपने दिये हुए नहीं मालूम पड़ते। उनके पद शताब्दियों तक केवल मौखिक रूप में जीवित रहे। इसलिए सम्भव है कि बहुत से पद नष्ट हो गये हों। नवीं शताब्दी के अन्त में श्री नाथमुनि ने बड़े परिश्रम से इन पदों का संकलन किया और पद-संख्या, विषय अथवा छन्द के आधार पर अलग-अलग नाम दिये। आऴ्वारों की रचनाओं के संग्रह का नाम तभी से 'दिव्य-प्रबन्धम्' अथवा 'अरुळिच्चेयल' अर्थात् 'अनुग्रहपूर्ण वाणी' पड़ा। श्री रामानुजाचार्य के समय में उनके एक शिष्य श्रीरंगमवासी अमुदन ने गुरु रामानुजाचार्य की स्तुति में तमिऴ भाषा में एक सौ पद रचे थे, जिनको भी 'रामानुज नूट्रन्दादि' के नाम से 'दिव्य-प्रबन्धम्' में समाविष्ट किया गया है। इस पूरे संग्रह के पदों की संख्या ४,००० के लगभग है। अतः सुविधा के लिए इस पद-संग्रह को 'नालायिर दिव्य-प्रबन्धम्' अर्थात् 'चार सहस्र पावन पद' की संज्ञा दी गई है।

अब आऴ्वारों के जीवन-वृत्त पर संक्षेप में प्रकाश डालकर उनकी रचनाओं और उनके वर्ण्य-विषय का परिचय दिया जाता है।

पोयगै आळवार (सरोयोगी)

आळवार भक्तों की परम्परा में प्रथम तीन आळवारों को 'मुदलाळवार' कहा जाता है। इन तीनों में भी पोयगै आळवार को 'आदि कवि' कहते हैं।[1] इनका जीवन-वृत्त तिमिराच्छिन्न है। कहा जाता है कि इनका जन्म तमिळ-प्रदेश में काँचीपुरम के उत्तर भाग में स्थित 'तिरुवेह्वा' के एक तालाब मे कमल पुष्प पर हुआ था। इनको विष्णु के शंख का अवतार भी माना जाता है। इनका जन्म तालाब के फूल से होने के कारण इनका नाम 'पोयगै' (तालाब) आळवार पड़ा। 'गुरु परम्परा' ग्रन्थों के अनुसार इनका जन्म ४२० ई० पू० में हुआ था। परन्तु आधुनिक विद्वानों को यह मान्य नहीं है।

'पोयगै' के नाम से एक दूसरे कवि का भी पता चला है जो तमिळ साहित्य के 'संघकाल' (दूसरी और तीसरी शताब्दियाँ) में जीवित थे। इस कवि की रचना 'इळिलै' है जो हाल में प्रकाशित हुई है। 'याप्पिरुगल विरुत्ति' नामक तमिळ-पिंगल व्याकरण ग्रन्थ में 'अस्तादि' छन्द के उदाहरण के लिए जो पद दिये गए हैं, वे पोयगै आळवार के ही हैं। इस ग्रन्थ मे 'आर्ष-रचना' के उदाहरण के अन्तर्गत पोयगै आळवार के कुछ छन्दों में से त्रुटियाँ दिखाई गई हैं। डा० कृष्णस्वामी अय्यंगार[2] जैसे कुछ विद्वान् कवि पोयगै और पोयगै आळवार को एक ही व्यक्ति मानकर इनका समय दूसरी शताब्दी में निश्चित करते हैं। प्रो० ई० एस० वरदराज अय्यर[3] के मतानुसार इनका समय छठी शती के प्रारम्भ मानना चाहिए। सामान्य रूप से इनका समय चौथी या पाँचवीं शताब्दी माना जा सकता है।

पोयगै आळवार के जीवन की घटनाओं का पता नहीं चलता। अन्त:साक्ष्य के आधार पर इनके स्वभाव-चरित्र आदि के विषय में कुछ जाना जा सकता है। पोयगै आळवार बचपन से ही विष्णु के अनन्य उपासक थे। एक पद में उन्होंने लिखा है कि इनके प्रारम्भिक जीवन का वातावरण भक्तिमय था। अत: अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने बचपन में विष्णु-कथाएँ सुनी होंगी और इनका मन गोपाल कृष्ण की लीलाओं में रमा होगा। पोयगै अळवार के समकालीन काँचीपुरम के राजा भी वैष्णव भक्त थे।[4] और एक पद में इन्होंने लिखा है—"मेरा मुँह केवल उस चक्रधारी विष्णु की ही स्तुति करेगा। मेरे कान केवल उन्हीं की गुण-गाथाओं को सुनेंगे।

---

१. द्राविड़ मुनिवरकळ—एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ४।
2. *Early History of Vaishnavism in South India*, pp. 72-73.
3. *A History of Tamil Literature*—Prof. E. S. Varadaraja Iyer, p. 254.
४. मूवर एट्टिय मोली विलक्कु—श्री पी० श्री आचार्य, पृ० ३७।

जाता है। उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। ये पोयगै आळवार के समकालीन माने जाते हैं। सामान्यतः इनको चौथी या पाँचवी शती में जीवित मान सकते हैं। श्री राघव अय्यंगार ने इनका जीवन-काल पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध मे माना है।[1]

कहा जाता है कि ये बाल्यावस्था मे ही सन्त, पवित्र, निष्कलंक, ज्ञान के अपूर्व भण्डार और श्रेष्ठ भगवद् अनुरागी थे। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन्होंने वेद, उपनिषदों को अवश्य पढ़ा था। ये भी पोयगै आळवार की तरह घूम-घूमकर भगवद्-भक्ति का प्रचार करते थे और लोगों को उपदेश देते थे। एक स्थान पर स्थायी रूप से न रहे। कहा जाता है कि ये सिद्ध-महात्मा थे। इनका जीवन अत्यन्त सादा था और इन्होंने अपना सारा जीवन भगवद्-भजन मे बिताया। नम्माळवार ने इनकी बड़ी स्तुति की है। भूतत्ताळवार ने अपने एक पद में तमिळ भाषा के प्रति अपने अपार प्रेम का परिचय दिया है। 'भूत' का अर्थ पंचभूत संचालित जीवन है और भूतत्ताळवार का विश्वास था कि अपना भौतिक अस्तित्व भगवान् पर ही पूर्णतया आधारित है।

रचनाएँ

भूतत्ताळवार के सौ पद 'तिरुवंतादि' छन्द मे रचित मिलते हैं और 'इरंडाम तिरुवंतादि' के नाम से 'प्रबन्धम्' के 'इयंपा' विभाग मे संगृहीत हैं। ये स्फुट पद हैं। इनमें किसी कथा का निर्वाह नहीं है। कवि के समाधिमय क्षणों मे मानस से निकले हुए अनुभूतिपूर्ण उद्गार भावमयी भाषा में अभिव्यक्त हुए हैं। भगवद् गुण, भक्ति की महिमा, शरणागति आदि वर्ण्य-विषय हैं। कवि ने विष्णु के अनेक अवतारों का स्मरण किया है। कृष्ण की बाल-लीलाओं की ओर भी संकेत है। अनेक वैष्णव-मन्दिरों की स्तुति की गई है। पर्वतीय-क्षेत्रों का वर्णन करते समय प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है।

रहस्यवाद की सुन्दर झलक कहीं-कहीं दीख पड़ती है। इनकी रचना का प्रथम पद बहुत प्रसिद्ध है—"प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बाती लगाकर, स्नेह द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान का दीप जलाया।"[2]

पेयाळवार (महाद्योगी या भ्रान्त योगी)

कहा जाता है कि पेयाळवार वर्तमान मद्रास नगर के अन्तर्गत 'मैलापुर' नामक स्थान में किसी कुएँ के लाल कमल पुष्प से प्रगट हुए। चूँकि इन आळवारों के जन्म,

---

१ [illegible]—प्रो० एम० राघव , पृ० २९

२. इरंडाम तिरुवंतादि, पद १।

परिवार इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। इसलिए इनकी दैवी उत्पत्ति की कल्पना जन मानस ने ही रची। मद्रास में पेयाळ्वार के नाम से एक मन्दिर भी है। श्री सम्प्रदाय वाले इन्हें विष्णु के खड्ग का अवतार मानते हैं। कहते हैं कि भगवद्-भक्ति के परमावेश में द्रवित होकर ये रोते, हँसते, गाते, नाचते और चिल्लाते थे। अतः लोगों ने इन्हें पागल समझकर इनका नाम 'पेयाळ्वार' रख दिया था।

इनका जीवन-काल भी विवाद का विषय रहा है। साधारणतया इनको पोयगै आळ्वार और भूतत्ताळ्वार का समकालीन माना जाता है। ये परम वैष्णव-भक्त थे और जीवन भर वैष्णव-भक्ति का प्रचार करते रहे। ये एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहते थे, और सदा भ्रमण कर लोगों को उपदेश देकर उनके अज्ञान-अन्धकार को दूर करते थे। इनका जीवन अत्यन्त सादा था और धन, कीर्ति आदि का मोह किंचित् भी नहीं था।

पोयगै आळ्वार, भूतत्ताळ्वार और पेयाळ्वार—इन तीनों को 'मुदलवर' भी कहते हैं। साम्प्रदायिक मतानुसार ये तीनों अयोनिज थे और भगवान् द्वारा भक्ति-प्रचार के लिए भेजे गये थे और इनका जन्म एक ही महीने में हुआ था। इस प्रकार इन्हें समकालीन ठहराने का प्रयत्न किया गया है। ये तीनों आळ्वार पूर्वपरिचित नहीं थे। इनके एक-दूसरे से परिचित होने के सम्बन्ध में एक घटना बहुत ही प्रसिद्ध है। एक दिन पोयगै आळ्वार भक्ति-प्रचार करते हुए 'तिरुक्कोवलूर' नामक स्थान में आ पहुँचे। शाम हो गयी थी। भारी वर्षा होने लगी और अँधेरा भी छा गया था। भीगते-भीगते पोयगै आळ्वार आये और वर्षा से अपने को बचाने के लिए और रात गुजारने के लिए स्थान ढूँढने लगे। आखिर उन्हें एक छोटी सी कुटिया के बरामदे में सोने के लिए जगह मिल गयी और वे विश्राम करने लगे। थोड़ी देर के बाद एक दूसरा व्यक्ति वहाँ आ पहुँचा और उसने पोयगै आळ्वार से अपने लिए जगह माँगी। वह व्यक्ति भूतत्ताळ्वार थे। पोयगै आळ्वार ने यह कहकर कि यहाँ एक आदमी लेट सकता है, दो बैठ सकते हैं, भूतत्ताळ्वार को भी बैठने की जगह दी और दोनों आध्यात्मिक चर्चा करते रहे। इतने में वहाँ एक तीसरे आदमी का भी आना हुआ जिसने भी वर्षा से अपने को बचाने के लिए उन दोनों से थोड़ी जगह माँगी। ये पेयाळ्वार थे जो कहीं से वहाँ आ पहुँचे। पोयगै और भूतत्ताळ्वार ने यह कहकर कि यहाँ एक आदमी लेट सकता है, दो बैठ सकते हैं, तीन खड़े हो सकते हैं, पेयाळ्वार को भी जगह दी। अब तीनों खड़े होकर भगवद् गुणगान करने लगे कि अचानक उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो उनके बीच में कोई अन्य व्यक्ति भी उपस्थित हुआ है। वे तीनों भक्त अपने मध्य साक्षात् भगवान् को पाकर प्रसन्न हुए। भगवान् ने उनसे कोई वर माँगने को कहा। बस, भक्तों को भक्ति के अलावा और क्या चाहिए? तीनों भक्तों ने भगवान् से यही प्रार्थना की कि हम सदैव आपका ही गुणगान करते रहें और आप ही का स्मरण हमें सर्वदा रहे, आप यही वरदान दे दें। कहते हैं कि उस समय दिव्यालोक सा वहाँ छा गया। उस समय तीनों आळ्वार भावावेश में थे और उनके मुँह से कविता

फूट निकली। तीनों ने सौ-सौ पद गाये। इस घटना की पुष्टि पोयगै आळवार के एक पद[1] से होती है। इस घटना में आळवारो के सिद्धान्तो का मूल है। इससे इनकी विशाल-हृदयता का परिचय मिलता है।

कहा जाता है, पेयाळवार ने ही तिरुमलिसई आळवार को जो पहले कट्टर शैव-भक्त थे, शास्त्रीय वाद-विवाद में परास्त किया और उनको परम वैष्णव-भक्त बना दिया। इस सम्बन्ध में एक कथा भी प्रसिद्ध है। इससे ज्ञात होता है कि पेयाळवार बड़े ज्ञानी थे।

रचनाएँ

पेयाळवार के सौ पद 'मूंद्राम तिरुवंतादि' के नाम से 'प्रबन्धम्' मे संगृहीत हैं। ये 'तिरुवंतादि' छन्द-विशेष में रचित स्फुट पद है। किसी कथा का आधार नहीं लिया गया है। इनमें भक्त-हृदय के वे उद्गार अभिव्यक्त हुए हैं जो कठोर से कठोर हृदय को भी द्रवित करने वाले हैं। भगवद् गुण, भक्ति की महिमा, शरणागति आदि के विषय वर्णित हैं। इनसे कवि के वेद, उपनिषद्, गीता आदि के ज्ञान का परिचय मिलता है। एक पद में कवि ने कहा है—"वह ईश्वर है, पृथ्वी, आकाश, आठो दिशाओं, वेद, वेदार्थ सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।"[1] इन्होंने भक्ति को सबसे सरल मार्ग बताया है। विष्णु के विभिन्न अवतारों का भी उल्लेख है। कृष्ण की बाल-लीलाओं की ओर सकेत है। कहीं-कही प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है।

तिरुमळिसई आळवार (भक्तिसार)

तिरुमळिसई आळवार का जन्म कांचीपुरम के पास स्थित 'तिरुमळिसई' (महीसपुर) नामक ग्राम में हुआ था। सम्प्रदाय में इनको विष्णु के चक्र का अवतार माना जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक किवदन्ती प्रचलित है, जिसके अनुसार ये भार्गव मुनि तथा कनकांगी नामक अप्सरा के संयोग से उत्पन्न हुए थे और माता के परित्याग कर देने पर 'तिरुवाळन' नाम के एक व्याघ ने उस नवजात शिशु का पालन-पोषण किया था। इनके समय का निर्णय करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि ये पल्लव-राजाओ के शासन-काल मे ही जीवित थे। श्री राघव अय्यंगार इनका जीवन-काल छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा सातवी शती के पूर्वार्द्ध में मानते हैं। तिरुमळिसई के कुछ पदो में स्वचरित सम्बन्धी कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक जगह इन्होंने अपने को निम्न-जाति का बताया है।

कहा जाता है कि बाल्यावस्था में ये कभी किसी स्त्री का स्तन-पान नहीं करते थे। अतः एक वृद्ध पुरुष यह समझकर कि यह कोई असाधारण बालक है, इन्हें गाय का दूध पिलाने लगा और आळवार के दुग्ध-पान करने के पश्चात् पात्र में शेष बचने

---

१. मूदल तिरुवंतादि, पद ८६।

वाले दूध को स्वयं खुद पीता था और अपनी पत्नी को भी पिलाता था। कुछ दिनों के पश्चात् उस वृद्ध पुरुष को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'कणिकण्णन' रखा गया। आगे चलकर 'कणिकण्णन' तिरुमऴिसै का प्रधान शिष्य बन गया।

यह प्रसिद्ध है कि तिरुमऴिसै पहले से कट्टर शैव थे और इनका नाम 'शिववाक्य'[1] था। इन्होंने शैव-धर्म पर कुछ ग्रन्थ भी रचे थे और शैव-धर्म का प्रचार किया था।[2] पेयाऴ्वार और इनमें शास्त्रीय वाद-विवाद हुआ था और अन्त में शिववाक्य पराजित होकर पेयाऴ्वार के शिष्य बन गये और अपना नाम तिरुमऴिसै रखा था। तत्पश्चात् ये शैव, जैन और बौद्ध धर्मों के कट्टर विरोधी बन गये और वैष्णव धर्म के पक्के समर्थक हो गये। इनकी रचनाओं में अन्य धर्मों का खण्डन मिलता है। एक स्थान पर इन्होंने लिखा है--"श्रमण एवं जैन मूर्ख हैं, बौद्ध भ्रम-जाल में पड़े हैं, शैव निर्दोष अज्ञानी हैं। विष्णु की पूजा नहीं करने वाले निम्न श्रेणी के हैं।"[3] इससे इनके कट्टर वैष्णव-भक्त होने का पता चलता है।

तिरुमऴिसै के पदों को देखने से विदित होता है कि इन्होंने महाभारत, रामायण, विष्णु पुराण आदि ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। ये संस्कृत और तमिऴ के बड़े विद्वान् थे। अनुमान किया जा सकता है कि पेयाऴ्वार के सम्पर्क में आने के पहले तिरुमऴिसै ने जैन, बौद्ध आचार्यों के पास रहकर विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया होगा। तभी इन्होंने स्वयं अपने को इन शास्त्रों में विद्वान् कहा है। इनको सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पतंजलि के योग-दर्शन का भी ज्ञान था। इनकी रचनाओं में भी वैष्णव संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल स्रोत देखने को मिलता है। इन्हीं की रचना में ही प्रथम बार आऴ्वार-साहित्य में पांचरात्र मत के व्यूहवाद का वर्णन मिलता है।[4]

तिरुमऴिसै सिद्ध-योगी थे। इनकी योग शक्ति के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चूँकि तिरुमऴिसै शैव-धर्म को छोड़कर वैष्णव बन गये थे, इसलिए शिवजी ने विष्णु की उपासना में लीन आऴ्वार की परीक्षा लेनी चाही। शिव जी ने स्वयं प्रकट होकर तिरुमऴिसै से वर माँगने को कहा। तिरुमऴिसै ने यद्यपि कुछ माँगना नहीं चाहा तो भी शिवजी के बार-बार आग्रह करने पर उनसे पूछा कि आप मुझे मोक्ष दिला सकते हैं और मेरी आयु को बढ़ा सकते हैं? शिवजी ने इन दोनों कामों में अपने को असमर्थ बताकर और कुछ माँगने को कहा। इस पर

१. आऴ्वारगळ कालनिलै - श्री एम० राघव अय्यंगार, पृ० ३६ ।
2. "Bhaktisara" : Sri Saila—"*Vedant Kesari*", Vol. 31, p. 189.
३. नान्मुखन तिरुवन्दादि, पद ६ ।
4 *Journal of Indian History*, Madras, Vol , 21 (1942) p 83
Dr K. C. Varadachari

तिरुमळिसई हँस पड़े। शिवजी इसको अपनी अवहेलना समझकर क्रुद्ध हुए और उन्होंने तिरुमलिसई को भस्म कर देना चाहा। परन्तु तिरुमळिसई की दृढ भक्ति-भावना और योग-शक्ति को देखकर उनकी प्रशंसा की और 'भक्ति-सार' नाम उनको दिया। कहा जाता है कि तिरुमळिसई आळवार ने अपनी योग-शक्ति से 'शुक्तिसार' नामक प्रसिद्ध सिद्ध-योगी तथा अन्य अनेकों मतवादियो को पराजित किया।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार तिरुमळिसई ने एक वृद्धा स्त्री को जो उनकी सेवा करती थी, युवती बना दिया और उस स्त्री के सौन्दर्य पर मोहित तत्कालीन पल्लव राजा ने उससे विवाह कर लिया। कुछ समय के पश्चात् राजा ने उस स्त्री के सौन्दर्य को और भी बढ़ता देखकर उसका रहस्य पूछा। राजा ने पुनः यौवन को प्राप्त करने की इच्छा से 'कणिकन्नन' से, जो तिरुमळिसई आळवार का शिष्य था और जो राजा के यहाँ भिक्षा माँगने जाता था, अपनी इच्छा प्रकट की और तिरुमळिसई को बुला लाने को कहा। 'कणिकन्नन' के यह कहने पर कि तिरुमळिसई राजा के प्रलोभनों में नहीं आयेंगे, राजा क्रुद्ध हुआ और 'कणिकन्नन' को देश-निकाले का दण्ड दिया। कणिकन्नन ने तिरुमळिसई के पास आकर सारा वृत्तान्त सुनाया तो तिरुमळिसई भी उसके साथ निकलने को तैयार हो गये। फिर इन्होंने मन्दिर के अन्दर जाकर प्रार्थना की—"हे वात्सल्यमय भगवान्! कणिकन्नन इस नगरी को छोडकर जा रहा है और उसके साथ मुझे भी जाना होगा। इसलिए आप भी आदि शेष रूपी शैया को समेटकर मेरे साथ चलने की कृपा करें।" कणिकन्नन सहित तिरुमळिसई आळवार के नगर के बाहर जाने पर नगर में अन्धकार छा गया। इस दुर्वस्था को देखकर राजा तिरुमळिसई और कणिकन्नन के पास आया और क्षमा माँगने लगा। तिरुमळिसई ने अब राजा पर दया कर, भगवान् से अपने लौटने की प्रार्थना की और भगवान् ने भी ऐसा ही किया। पुनः वे अपने निवास-स्थान को आ पहुँचे। उस स्थान पर स्थित मन्दिर आज भी 'यथोक्तकारी' के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

कहते हैं कि एक बार तिरुमळिसई कुम्भकोणम नामक नगर मे स्थित विष्णु-मन्दिर के दर्शनार्थ गये थे। वहाँ कुछ ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे थे। तिरुमळिसई को देखकर उन्हें नीच जाति वाला तथा वेद-वाक्य के श्रवण का अनधिकारी समझकर ब्राह्मणों ने वेद-पाठ बन्द कर दिया। तिरुमळिसई उनके अभिप्राय को समझकर वहाँ से उठकर अन्यत्र चले गये। जब ब्राह्मणों ने पुनः वेद-पाठ शुरु करना चाहा, तब किसी को भी याद नहीं आया कि उन्होंने कहाँ वेद-पाठ बन्द किया था। उसे तिरुमळिसई का अपमान करने का फल समझकर, वे तिरुमळिसई के पास आकर क्षमा माँगने लगे। तिरुमळिसई ने उन्हे वेद का वह वाक्य बताया, जहाँ से उन्हे प्रारम्भ करना था। यह भी कहते हैं कि श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों मे तिलक लगाने

---

१ **तोंडकुलमे तोलुकुलम** श्री पी० श्री० आचार्य पृ० ५४ ५५।

के लिए भी सूर्य का प्रयोग इन्होंने ही पहले-पहल किया था।[1] गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार ये सैकड़ों वर्ष जीवित रहे।

रचनाएँ

तिरुमळिसई आळवार की दो रचनाएँ "प्रबन्धम्" में संगृहीत मिलती हैं— "नान्मुखन तिरुवन्तादि" तथा "तिरुच्चन्दविरुत्तम"। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने कई रचनाएँ की थीं और उनसे सन्तुष्ट न होकर इन्हें कावेरी नदी में डाल दिया और कई रचनाएँ सरिता के प्रवाह में बह गयीं और केवल "नान्मुखन तिरुवन्तादि" तथा "तिरुच्चन्दविरुत्तम" प्रवाह के साथ न बहकर अपने आप किनारे की ओर लौट आयीं।

"नान्मुखन तिरुवन्तादि" आळवार की रचनाओं में सबसे पहले रचित मालूम पड़ती है। इसमें 'अन्तादि' छन्द में रचित १०० पद्य संकलित हैं। इसमें विष्णु को परमात्मा मानकर शिव और ब्रह्मा को उनकी कृति बताया गया है। भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता, भगवान् के वात्सल्य, प्रेम आदि विशिष्ट गुणों का वर्णन है। सभी पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं। विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख है। पर कृष्णावतार में कवि की आस्था है। संसार की सारहीनता, भगवद्-ध्यान करने से आनन्द, शरणागति आदि विषय भी वर्णित हैं। कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन की सुन्दर छटा है।

'तिरुच्चन्दविरुत्तम' में १२० पद हैं। पद विविध रागों में हैं। इसका पूर्वार्द्ध वैष्णव-धर्म के उपदेशों से सम्बन्धित है। वेद, उपनिषदों का सार दिया मिलता है। 'नान्मुखन तिरुवन्तादि' की अपेक्षा इसमें ब्रह्म के कुछ तत्त्वों का विवेचन है। उत्तरार्द्ध के कुछ पदों में एक विरहिणी नायिका के रूप में भगवान् से मिलने के लिए आतुरता प्रकट की गई है। आळवार-साहित्य में प्रथम बार नायक-नायिका के बीच विरह-मिलन के रूप में भगवान् और भक्त के बीच मिलन-आतुरता तिरुमळिसई की रचना में ही अंकित हुई है।

नम्माळ्वार (शठकोप)

आळवार-गोष्ठी में नम्माळवार का स्थान सर्वोपरि है।[1] दक्षिण के समस्त वैष्णव-भक्ति-साहित्य के इतिहास में नम्माळवार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[2] नम्माळवार, शठकोप, परांकुश, वकुलाभरण, मारन आदि नाम से भी प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि शैशवावस्था में 'शठ' नामक वायु पर, जो मनुष्यों को पीड़ित करता है, अपना कोप प्रदर्शित कर इन्होंने भगाया था। अतः इनका नाम 'शठकोप' पड़ा।

1. *History of Tamil Language and Literature*—Prof. S. Vaiyapuri Pillai, p. 120.
2. *The Holy Lives of Azhvars or Dravida Saints*—A. Govindacharya, p. 191.
3. *Studies in Tamil Literature and History*—V. R. R. Dikshitar, p. 105

'वकुल नामक पुष्प को धारण करने से 'वकुलाभरण' तथा अन्य मतावलंबियों को अपने तर्क रूपी अंकुश से परास्त करने से 'पराकुश' नाम इनको मिले ।[1]

नम्माळवार का जन्म पांडिय देश में तिरुनेलवेली जिले में ताम्रवर्णी नदी के किनारे पर स्थित तिरुकुरुहूर (वर्तमान आळवार तिरुनगरी) में हुआ था । जिस तरह अन्य आळवारों को विष्णु के आयुध-विशेष या आभूषण-विशेष का अवतार माना जाता है, उसी प्रकार नम्माळवार को विष्वक्सेन का अवतार माना जाता है । इनको 'अवयवी' तथा शेष आळवारों को 'अवयव' भी कहते हैं । इनका जीवन-काल बहुत से विवाद का विषय रहा है । यह पाँचवी शती से नवीं शती तक दोलायमान है । गुरुपरम्परा-ग्रन्थों के अनुसार इनका जन्म कलियुग-प्रारम्भ के ४३वें वर्ष मे अर्थात् आज से ५००० वर्ष पूर्व हुआ था । यह मत विश्वसनीय नहीं हो सकता । आधुनिक विद्वानों में डा० कृष्ण स्वामी आय्यंगार इनका जीवन-काल छठी शताब्दी में मानते हैं ।[2] श्री टी० ए० गोपीनाथ राव ने अनामलाई के शिलालेख के आधार पर, इनका काल नवीं शताब्दी बताया है ।[3] श्री वी० आर० आर० दीक्षितर ने वेलवीकुडी दान-पत्र के आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी माना है ।[4] यही मत अधिक समीचीन मालूम पड़ता है ।

नम्माळवार के पिता का नाम करिमारन तथा माता का नाम उदयनंगै था । इनके पिता पाण्ड्य राजा के यहाँ एक उच्च पदाधिकारी थे और आगे चलकर वलुदिवळ नाडु नामक एक छोटे राज्य के अधीश हो गये । बहुत समय तक कोई सन्तान न होने पर करिमारन ने पत्नी सहित तीर्थाटन कर श्री विष्णु भगवान् से पुत्र-सौभाग्य प्रदान करने की प्रार्थना की । कहा जाता है कि उस पर विष्णु भगवान् ने स्वयं उनके पुत्र रूप से अवतार लेने का वायदा किया था । जनश्रुति के अनुसार बालक नम्माळवार ने जन्म लेने के उपरान्त १० दिनों तक न तो अपनी आँखें खोली और न अपनी माता का दूध पिया, और न रोया भी था । अतएव इनके माता-पिता, बारहवें दिन इन्हें स्थानीय विष्णु-मन्दिर में किसी इमली के वृक्ष के कोटर में छोड़ आये । वहीं पर नम्माळवार १६ वर्ष तक योग-मुद्रा-धारण किये पड़े रहे और कहते हैं कि विष्णु भगवान् ने इनका पालन-पोषण किया था ।

योग-मुद्रा से इनके जागने के सम्बन्ध में एक विचित्र घटना बतायी जाती है । कहा जाता है कि मधुरकवि नामक एक विद्वान् ब्राह्मण उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थों में घूमते हुए जब अयोध्या पहुँचे, तब उन्होंने दक्षिण दिशा में एक विचित्र ज्योति-स्तम्भ देखा । उन्हें ऐसा लगा कि वह ज्योति-स्तम्भ उनका आमन्त्रण कर रहा है ।

---

१. **श्री भगवद् विषयम्**—ए० रंगनाथ मुदालियर, पृ० १८-१९ ।
2. *Early History of Vaishnavism in South India.*
3. *History of Sri Vaishnavas*, pp. 18-21.
4. *Studies in Tamil Literature and History* pp 104-105

इस सार्थक निमन्त्रण से आकर्षित होकर मधुर कवि हजारों मील दक्षिण की ओर, उस ज्योति की दिशा में चले। कई पुण्य-क्षेत्रों को पार करते हुए, अन्त में ताम्रपर्णी नदी के किनारे पर स्थित मन्दिर के इमली वृक्ष के पास आ पहुँचे। अब उन्हें स्पष्ट हो गया कि वह ज्योति मौन निद्रावस्था में विराजमान नम्माळ्वार के शरीर से ही स्फुरित हो रही है। इन्होंने कौतूहलवश एक पत्थर उठाकर नम्माळ्वार के सामने पटक दिया। उसकी आवाज सुनते ही 'नम्माळ्वार' की आँखें खुल गयीं और दोनों के बीच आध्यात्मिक चर्चा होने लगी। युवक नम्माळ्वार की ज्ञान-गरिमा से वृद्ध ब्राह्मण विद्वान् मधुरकवि इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने नम्माळ्वार को निज गुरु के रूप में अपनाया। तत्पश्चात् मधुरकवि ने अपने आचार्य के मुख से निकले सारे पदों को यथाक्रम लिपिबद्ध किया। वे ही अब नम्माळ्वार की रचनाओं के नाम से संगृहीत हुए हैं।[1]

यद्यपि सभी गुरुपरम्परा ग्रंथ एक ही स्वर से घोषित करते हैं कि नम्माळ्वार ने इमली के पेड़ के कोटर में रहते हुए आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था और दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध न था, तथापि नम्माळ्वार की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे समाज में अवश्य रहे थे और मनुष्य जीवन की समस्याओं का सामना इन्हें भी करना पड़ा था। अतः इनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज का चित्रण मिलता है। कुछ पदों में तमिळ-प्रदेश के अनेक स्थानों का ऐसा वर्णन है जो उन स्थानों को बिना देखे सम्भव ही न था। इनकी रचनाओं में इनके पूर्व के तमिळ-साहित्य में प्राप्त होने वाली सभी साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि इन्होंने तमिळ-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। ये संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे। क्योंकि इनकी रचनाओं में वेद, उपनिषद् तथा गीता के सार का समावेश हुआ है।

नम्माळ्वार की अन्य जीवन-घटनाओं का पता नहीं चलता। ये अविवाहित ही रहे और सांसारिक वस्तुओं में उनका मोह न था। कहा जाता है कि वे केवल ३५ वर्ष तक ही जीवित रहे।

रचनाएँ

नम्माळ्वार के निम्नलिखित चार ग्रन्थ 'दिव्य-प्रबन्धम्' में समाविष्ट हैं :—

१—तिरुविरुत्तम्,

२—तिरुवाशिरियम्,

३—पेरिय तिरुवन्तादि, और

४—तिरुवायमोळि।

'तिरुवायमोळि' नम्माळ्वार का सबसे बड़ा ग्रन्थ है और यह 'दिव्य-प्रबन्धम्' का पूरा चौथा भाग बन गया है।

1 *Nammalvar*—G A. Natesan, Madras, pp. 22-23.

'**तिरुविरुत्तम**' को ऋग्वेद का सार कहा जाता है। इसमें १०० पद हैं। इसमें भगवान् के प्रति प्रेम और तन्मय भाव के सम्बन्ध मे विस्तार से कहा गया है। कवि ने स्वय को विरहिणी नायिका के रूप मे और भगवान् को प्रियतम-नायक के रूप मे मानकर माधुर्य-भाव से भक्ति-भावना प्रकट की है। नायिका का प्रियतम से मिलने के लिए आतुर होना, समस्त प्रकृति को अपने प्रतिकूल पाना, विह्वल होना, नायक की प्रतीक्षा करते-करते क्षीण होना, मेघ, पक्षी द्वारा सन्देश भेजना, अन्त मे मरने तक को तैयार हो जाना आदि बातों का विशद् वर्णन है। कथा मे प्रबन्धात्मकता की छटा है। ऊपर से देखने पर यह एक लौकिक प्रेम-काव्य मालूम पड़ेगा। परन्तु इसमें कवि ने विरहिणी नायिका के रूप मे भगवान् के प्रति अपनी स्थिति का ही वर्णन किया है। यह मधुर भक्ति का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह रहस्यानुभूतियों का भण्डार है। कवि ने तमिल के 'संघकाल' के काव्यो मे प्राप्त होने वाली लौकिक प्रेम सम्बन्धी सभी साहित्यिक परम्पराओं को लेकर उनका उपयोग इस प्रकार कर दिया है।

'**तिरुवाचिरियम**' मे ७ पद हैं तथा '**पेरिय तिरुवन्तादि**' में ८७ पद हैं। इनको क्रमशः यजुः और अथर्व वेदों का सार कहा जाता है। इनमे कोई कथा वर्णित नही है। सभी पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं। इनमें भगवद् स्वरूप, गुण, विभूति, भक्ति-तत्व, शरणागति तत्व आदि की चर्चा है।

'**तिरुवायमोळी**', नम्माळवार के ग्रन्थो में ही नही, बल्कि समस्त आळवार-साहित्य में सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'तिरुवायमोली' का अर्थ है—'संत महात्मा के मुख से निकली हुई दिव्य वाणी'। 'वायमोळी' शब्द प्राचीन तमिळ-साहित्य मे 'वेद' के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] इसमे १,१०२ पद है, जो विभिन्न राग-रागिनियो में गाने योग्य हैं। 'तिरुवायमोळी' को सामवेद का सार कहा जाता है। इसके स्फुट पद दशकों में बटे हैं और प्रत्येक ग्यारहवें पद में फल-श्रुति है। इसमें भक्ति, उपदेश, शरणागति, गुरु-महिमा आदि विषय वर्णित हैं। उच्चकोटि के दार्शनिक विचार भी अभिव्यक्ति हुए हैं। माधुर्य और सख्य-भाव से भक्ति का विवेचन हुआ है। इसमें भी अनेक दशकों में नायक-नायिका के माध्यम से जीवात्मा-परमात्मा सम्बन्ध की रोचक व्याख्या हुई है।

प्रसिद्धि

तमिळ के भक्ति-साहित्य में नम्माळवार को जो स्थान प्राप्त हुआ है, वह शायद ही अन्य किसी कवि को मिला हो। इन्हें 'दिव्य कवि' भी कहते हैं[2]। इनके पदों में व्याप्त उच्चकोटि के दार्शनिक विचार ही श्री वैष्णव मत के मूल स्रोत हैं। इस

---

१. **आम्र शिखरम्**—पी० श्री० आचार्य, पृ० ९९।

२. "**शठरिपुरेक एव कमलापति दिव्य कविः**"—दिव्यसूरि कथामृतम् : श्री पी० बी० पृ० १२

कारण इन्हें "श्री वैष्णव-कुल-पति" भी कहा जाता है।[1] तमिळ-प्रदेश के अनेक वैष्णव-मन्दिरों में श्री विष्णु की 'दिव्य पादुका' श्री शठकोप के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे भक्त लोग अपने सिर पर धारण करते हैं। इनके नाम पर अनेक प्रशस्ति-ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें मधुरकवि कृत 'कण्णिनुण् शिरुत्ताम्बु', 'आचार्य हृदय', 'पादुका-सहस्रम्', 'द्राविड़ उपदेश-रत्नावली', 'शठकोपरन्तादि', आळवार अनुभूति', 'दिव्यसूरि-चरितम्' मुख्य हैं। इनमें नम्माळ्वार की बड़ी स्तुति की गई है।

कहते हैं कि तमिळ के कवि-चक्रवर्ती के नाम से विख्यात कम्बर द्वारा रचित 'रामायणम्' को भगवान् श्री रंगनाथ ने तभी स्वीकार किया, जब उन्होंने नम्माळ्वार की प्रशंसा में 'शठकोपरन्तादि' की रचना की। कवि कंबर का कहना है—"क्या विश्व के समस्त काव्य-समूह नम्माळ्वार के एक शब्द की बराबरी कर सकते हैं? क्या खद्योत अंशुमाली के सामने चमक सकते हैं?"—इत्यादि। प्रसिद्ध है कि जब कंबर ने भगवान् श्री रंगनाथ के सामने 'शठकोपरन्तादि' के पदों को गाकर सुनाया तो भगवद्विग्रह में से आवाज निकली—"ये ही हमारे आळ्वार (नम्माळ्वार) हैं।" तभी से इनका नाम 'नम्माळ्वार' हो गया।

इन्हें दक्षिण का समस्त वैष्णव-जगत् 'वकुल-भूषण-भास्कर' कहकर पुकारता है। ब्रह्माण्ड पुराण, भविष्यत् पुराण, मार्कण्डेय पुराण आदि में नम्माळ्वार (शठकोपाचार्य) सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। ये 'तमिळ-वेद-प्रणेता' अथवा 'तमिल वेद-व्यास' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।[2] जिस इमली-वृक्ष के कोटर में रहकर नम्माळ्वार ने ज्ञानोदय प्राप्त किया था, वह आज भी आळ्वार तिरुनगरी में विद्यमान है और भक्त उसके दर्शन कर आते हैं।[3]

नम्माळ्वार की रचनाएँ 'द्राविड़ वेद सागर' के नाम से प्रसिद्ध हैं।[4] कहा जाता है कि रामानुजाचार्य ने ब्रह्म-सूत्रों पर भाष्य लिखते समय अपने सन्देहों का समाधान नम्माळ्वार की रचनाओं को देखकर ही किया था।[5] वेदान्तदेशिकाचार्य ने भी वेद-रहस्यों को नम्माळ्वार की रचनाओं को पढ़कर ही समझा था।

नम्माळ्वार की 'तिरुवायमोळी' पर अनेक भाष्य अथवा टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। संस्कृत में 'सहस्र गीति'

१. "शठरिपुरेक एव कलयति विश्व कविः"—दिव्यसूरि कथामृतम् : श्री पी०बी० अण्णंगराचार्य, पृ० १२।

२. ज्ञान विळक्कु—श्री पी० बी० आचार्य पृ० ९५।

३. वही, पृ० ९४।   ४. वही, पृ० १००।

5. "It is 'Tiruvoymoli' that has shaped the furniture of Sri Ramanuja's capacious mind and heart."—R. S. Desikan, "*Vedanta Kesari*", May, 1961, p. 47.

के नाम से यह श्लोकों में अनूदित है। जहाँ तक 'तिरुवायमोळी' के साहित्यिक महत्व का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि इसने परवर्ती भक्ति-साहित्य को बहुत प्रभावित किया। इसके उच्च आदर्श को परवर्ती कवियों ने अपने सामने रखा है। अनेक वैयाकरणों ने नम्माळवार के पदों को ही श्रेष्ठ उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया है।

मधुरकवि आळवार (मधुरकवि)

मधुर कवि तथा नम्माळवार—दोनों की जीवनियाँ एक-दूसरी से अभिन्न सम्बन्ध रखती हैं। मधुरकवि आळवार का जन्म तिरुकुरुहूर के समीपवर्ती ग्राम तिरुकोइलूर में एक 'अग्र-शिखी' ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। श्री वैष्णव सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु के वाहन 'गरुड़' का अवतार माना जाता है। गुरुपरम्परा-ग्रन्थों से भी इनके जीवन-वृत्त पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। मधुरकवि ने बचपन में वेद तथा अन्य शास्त्रों का नियमवत अध्ययन किया था। संस्कृत तथा तमिळ—दोनों भाषाओं में पाण्डित्य प्राप्त किया था। बचपन से गीत-रचना करते थे और सुमधुर कंठ से गाते थे। कदाचित् इनकी मधुर-ध्वनि से प्रभावित होकर लोगों ने इन्हें 'मधुरकवि' के नाम से पुकारा होगा। इनके असली नाम का पता नहीं चलता।

कहते हैं, मधुरकवि श्रेष्ठ भक्त थे। इन्होंने विद्या के साथ प्रेम और भक्ति को भी महत्व दिया था और ये साधु-सन्तों की संगति किया करते थे। परन्तु किसी में भी अपने गुरु होने की योग्यता न देखकर, अन्त में ये सद्गुरु की खोज में अकेले ही निकल पड़े। इन्होंने दक्षिण और उत्तर के विभिन्न तीर्थ-स्थानों के दर्शन किये, पर कहीं भी सद्गुरु प्राप्त नहीं हुआ। कहा जाता है कि जब ये अनेक तीर्थों में घूमते हुए आखिर अयोध्या पहुँचे, तब इन्होंने दक्षिण-दिशा में आकाश में एक ज्योति-पुञ्ज को देखा। उस तेज-पुञ्ज का पता लगाने की तीव्र इच्छा से उसे लक्ष्यकर दक्षिण-दिशा में लम्बे मार्ग को पारकर अन्त में तिरुकुरुहूर आ पहुँचे, जहाँ नम्माळवार इमली-वृक्ष के कोटर में समाधिस्थ थे। समाधिअवस्था से जगाने के उद्देश्य से मधुरकवि ने नम्माळवार से यह प्रश्न किया कि यदि सत् पदार्थ (सूक्ष्म चेतना शक्ति) असत् (जड़ प्रकृति) के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है तो वह क्या खायेगा और कहाँ विश्राम करेगा? नम्माळवार ने तब आँखें खोलीं और उत्तर दिया कि वह उसी का आहार करेगा तथा वहीं पर विश्राम भी करेगा। इस सूक्ष्म उत्तर का आशय समझकर मधुरकवि इतने प्रभावित हुए कि नम्माळवार का शिष्यत्व ग्रहण किया।[1] जिस सद्गुरु की खोज में ये निकले थे, उन्हें नम्माळवार के रूप में पाकर इन्होंने अपने जीवन को धन्य समझा और गुरु की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। उस जमाने में एक वयोवृद्ध ब्राह्मण का निम्न जाति के एक युवक को गुरु मानना क्रान्तिकारी घटना थी। नम्माळवार इनके लिए गुरु ही नहीं, माता-पिता तथा ईश्वर तक थे। प्रसिद्ध है

१ द्राविड़ मुनिवरकळ—श्री राधाकृष्ण पिल्ले, पृ० ९९।

कि मधुरकवि ने शेष जीवन गुरु-सेवा में ही अर्पित किया था। कहा जाता है कि १६ वर्ष से गुरु की सेवा में रत रहे और उनके मुख से निःसृत पदों को लिपिबद्ध करते रहे। जब नम्माळ्वार ने अपने ३५ वें वर्ष में इह-लोक-लीला समाप्त की, तब इन्हें गुरु के वियोग से अत्यधिक दुःख हुआ। गुरु के पदों को साधारण जनता में प्रचार करना ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय समझा। गुरु के स्मरणार्थ इन्होंने उनके जन्म-स्थान तिरुक्कुरूर में उनकी एक प्रतिमा (मूर्ति) स्थापित की। गुरु की महिमा गाते हुए विभिन्न स्थानों में जाकर उनके उत्कृष्ट पदों का महत्व साधारण जनता को बताया और जनता में भक्ति-भावना जगा दी। गुरु नम्माळ्वार को इन्होंने ईश्वर-तुल्य समझा था और उनके पदों को 'वेद-वाणी' और उनको 'देव-कवि' कहकर स्मरण किया। कहा जाता है कि प्रसिद्ध संघम-सभा (कवि-मण्डल) में जाकर इन्होंने नम्माळ्वार के एक-एक पद में व्याप्त महान् तत्त्व को समझाया और नम्माळ्वार के श्रेष्ठ कवित्व का भी परिचय दिया।[1]

मधुरकवि आयु में अपने गुरु नम्माळ्वार से बड़े थे। गुरु के गोलोकवास के पश्चात् भी वे २५ वर्ष तक जीवित रहे। कहा जाता है कि इन्होंने आळ्वारों में सबसे लम्बी आयु प्राप्त की थी और १०१ वर्ष की अवस्था में अपने गाँव तिरुक्कोळूर में गुरु का स्मरण करते हुए अपनी इहलोक-लीला समाप्त की। चूँकि मधुरकवि अपने को नम्माळ्वार का दास मानते थे, इसलिए नम्माळ्वार की [illegible] को 'मधुरकवि' नाम प्राप्त है।

रचनाएँ

मधुरकवि आळ्वार की एक मात्र रचना 'कण्णिनुण् शिरुत्ताम्बु' उपलब्ध है जो 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत है। इसमें केवल ११ पद हैं, जिनमें गुरु नम्माळ्वार की महिमा गाई गई है। गुरु को इन्होंने ईश्वर-तुल्य समझकर उनकी स्तुति प्रस्तुत की है। श्रेष्ठ गुरु की आवश्यकता, गुरु के लक्षण, भक्ति की आवश्यकता आदि विषयों की भी चर्चा है। कहा जाता है कि कवि-चक्रवर्ती कंबर ने शठकोपाचार्य (नम्माळ्वार) की प्रशस्ति में 'शठकोपरन्दादि' नामक ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा 'कण्णिनुण् शिरुत्ताम्बु' से ही प्राप्त की थी।[2]

'तिरुवायमोळि' के पाठ का आरम्भ 'कण्णिनुण् शिरुत्ताम्बु' के पठन के बाद ही होता है।

कुलशेखराळ्वार (कुलशेखर)

केरलीय राजा कुलशेखर का आळ्वार-भक्तों में एक प्रमुख स्थान है, जिनकी तमिळ वैष्णव-भक्ति-साहित्य को देन बहुत ही सराहनीय है। 'केरलोत्पत्ति' नामक

1. 'Vedanta Kesari', Vol 32. "Madhura Kavi" Sri Balla, p 34.
२. [illegible]—श्री [illegible], पृ० १८।

ग्रन्थ में केरल प्रान्त के चेरवंशीय शासकों की वंशावली दी गई है। ये शासक 'पेरुमाळ' नाम से भी प्रसिद्ध थे। अतः कुलशेखराळवार को 'कुलशेखर पेरुमाळ' भी कहते थे। कहा जाता है कि राजा दृढ़व्रत की पुत्र-प्राप्ति के हेतु अपार तपस्या के फलस्वरूप उनके पुत्र-रत्न के रूप में कुलशेखर का जन्म हुआ। दृढ़व्रत ने अपने पुत्ररत्न को अपने कुल का 'शेखर' मानकर उनका नाम कुलशेखर रख दिया था। गुरुपरम्परा-ग्रन्थों में कुलशेखराळवार को विष्णु के वक्षस्थल की कौस्तुभ-मणि का अवतार माना जाता है।

कुलशेखराळवार के जीवन-काल के विषय में अनेक मत हैं। डा० भाण्डारकर इनका समय १२ वीं शती में मानते हैं।[1] उनका तर्क है कि चूँकि कुलशेखराळवार मुख्यतया रामोपासक थे। और रामोपासना १२ वीं शती मे ही विकास को प्राप्त हुई, इसलिए उनका काल १२ वीं शती के आस-पास मानना ही उचित है। परन्तु वस्तु-स्थिति भिन्न है। कुलशेखराळवार जितने राम-भक्त थे, उतने ही कृष्ण-भक्ति भी थे। कुलशेखर के पहले के आळवारों ने भी रामोपासना की थी। डा० कृष्ण स्वामी अय्यंगार ने कुलशेखर का जीवन-काल सातवीं शताब्दी में माना है।[2] कुलशेखराळवार की रचनाओं मे उपलब्ध अन्तःसाक्ष्य तथा शिलालेखो[3] के आधार पर कहा जा सकता है कि ये आठवी शताब्दी में जीवित थे।[4] अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है।[5] कुलशेखराळवार ने अपने को क्षत्रिय कुल[6] का तथा 'कोंगु'[7] देश का राजा बताया है और अपनी राजधानी 'कोल्ली'[8] (वर्तमान क्वलीन) का उल्लेख किया है। अपनी रचना 'मुकुन्दमाला' में इन्होंने 'द्विजन्मवरर' तथा 'पद्मसरर' नामक अपने दो मित्रों का परिचय दिया है।[9]

राज-परिवार में उत्पन्न होने के कारण कुलशेखर की शिक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध हुआ था। विभिन्न शास्त्रो और नाना कलाओं में इन्होंने विद्वत्ता अर्जित की। संस्कृत तथा तमिळ—दोनों भाषाओं मे समान रूप से पांडित्य प्राप्त किया। क्षत्रिय होने

1. "*Vaishnavism, Saivism and other minor Religious Sects*".
2. *History of Tirupati*—Dr. S. Krishnaswamy Iyengar, Vol. I. p. 166.
३. नवीं शती के एक शिलालेख में कुलशेखराळवार के एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हुई हैं—जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जीवन-काल अवश्य उससे पूर्व था।
४. आळ्वारकल कालनिलै—श्री राघव आय्यंगार—पृ० १६१।
5. *Studies in Tamil Literature and History*—V. R. R. Dikshitar, p. 106.

---

६. पेरुमाळ तिरुमोळी, ८ : ३।
७. वही, ३ : ६। ८. वही, ६ : १०।
९. श्लोक ४० (प्रकाशक श्री वी० वी० के० रमाचारी काकीनाडा

के कारण वे शस्त्र-विद्या में भी निपुण सिद्ध हुए। इन्होंने पास के छोटे राज्यों को जीतकर एक बड़ा शक्तिशाली राज्य कायम किया। कहा जाता है कि पुत्र की योग्यता से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर राजा दृढ़व्रत ने कुलशेखर का राज-तिलक कराकर स्वयं वनवास ले लिया। बचपन से ही कुलशेखर ने भगवद् कथाएँ सुनी थीं और इनका मन भक्ति की ओर झुका हुआ था। उनके यहाँ वैष्णव भक्तों का बड़ा आदर-सत्कार होता था और भगवद् चर्चा भी होती थी। सिंहासनारूढ़ होने के कुछ काल ही के पश्चात् राजा कुलशेखर का मन शासन-सम्बन्धी कार्यों से ऊब गया। कहा जाता है कि एक दिन इन्होंने स्वप्न में भगवान् के दर्शन किये तथा तत्पश्चात् इनका मन भक्ति को छोड़कर किसी दूसरे कार्य में नहीं लगा। राज्य को त्यागकर श्रीरंगम् की भक्ति-गोष्ठी में जा मिलने की इन्हें तीव्र उत्कण्ठा हुई।

कुलशेखराळ्वार की तीव्र भक्ति-भावना को लक्ष्य करने वाली अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। जब से राजा कुलशेखर का मन शासन-सम्बन्धी कार्यों में नहीं लगा, तब से अमात्य तथा राज-परिवार के लोगों को बड़ी चिन्ता हुई। कहा जाता है कि हर बार जब वे राज्य त्यागकर श्रीरंगम् जाने की तैयारी करते, तब अमात्य इनके पास किसी एक नये वैष्णव भक्त को भेज देते और उस वैष्णव भक्त का आदर-सत्कार करने के लिए कुलशेखर रुक जाते थे। इस प्रकार इनकी श्रीरंगम्-यात्रा स्थगित होती जाती थी। यह तो कहा जा चुका है कि कुलशेखर के यहाँ वैष्णव भक्तों का बड़ा सम्मान था। भक्तों के प्रति राजा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई श्रद्धा को देखकर अमात्य तथा राज-परिवार के लोगों को ईर्ष्या हुई और उन लोगों ने राजा के मन में भक्तों के प्रति अविश्वास पैदा करने के लिए एक उपाय ढूंढा। उन्होंने एक मूल्यवान रत्नमाला को छिपाकर उसके चोरी हो जाने की बात कुलशेखर से कही और चोरी का अपराध वैष्णव-भक्तों पर लगाया। राजा का दृढ़ विश्वास था कि वैष्णव भक्त ऐसा अपराध नहीं कर सकता था। कहा जाता है कि राजा ने एक घड़े में विषधर को डालकर लाने को कहा और यह कह कर कि अगर किसी वैष्णव भक्त ने चोरी का अपराध किया हो तो यह सर्प मुझे मार डाले, नहीं तो मुझे कुछ न करे, उस घड़े के अन्दर हाथ डाले। विषधर ने राजा को कुछ नहीं किया और इस प्रकार भक्तों की निष्कलंकता स्थापित की। इस घटना से अमात्य लोगों का बड़ा अपमान हुआ और उन लोगों ने राजा से क्षमा माँगी।

कुलशेखर की राम-भक्ति को लक्ष्य करने वाली अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें प्रमुख दो-एक को यहाँ दिया जाता है। एक बार जब वे कथावाचक से रामायण का व्याख्यान सुन रहे थे और उसमें सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण को नियुक्त कर अकेले ही श्री रामचन्द्र का खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने का प्रसंग[1]

---

१. चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥

—वाल्मीकि रामायण ३-२४-२१

आया, तब कुलशेखर ने तन्मय होकर, राम की सहायता के लिए अपनी समग्र सेनाओं को प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी। कथावाचक के यह कहने पर ही कि राम अकेले ही सबको मारकर सीता सहित विजयी होकर लौटे, कुलशेखर ने अपनी सेना को वापस बुलाया। एक अन्य अवसर पर जब कथावाचक ने कहा कि रावण ने सीता का हरण किया, इन्होंने श्रीलंका पर चढ़ाई कर सीता जी को लाने की आज्ञा सेनापति को दी और स्वयं समुद्रतट तक जाकर समुद्र मे उतरने लगे। कथावाचक के यह कहने पर कि श्री रामचन्द्र रावण को मार कर सीता जी सहित लौटे, ये राजमहल की ओर वापस आये।

अन्त में जब कुलशेखर श्रीरंगम् के विशालकाय मन्दिर के प्रांगण मे भगवान् की भक्त-मण्डलियों मे सम्मिलित होकर नृत्य, भजनादि से द्रवित जीवन बिताने की अपनी तीव्र उत्कंठा[1] का संवरण न कर सके, तब राज्य, ऐश्वर्य को त्यागकर पुण्य-क्षेत्रों के दर्शन के लिए निकल पड़े। श्रीरंगम्, तिरुपति आदि वैष्णव स्थलों के दर्शन इन्होंने किये। दिव्यसूरिचरितम्[2] मे कहा गया है कि इन्होने अपनी पुत्री ईला का विवाह भगवान् श्री रंगनाथ के साथ कराया। तमिळ-जनता के बीच में कुलशेखर सम्बन्धी प्रसिद्धियाँ ही बहुत अधिक प्रचलित है। परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार इन्होंने अपनी तीव्र भक्ति-भावना को पदों में अभिव्यक्त कर अपने ६७ वें वर्ष में अपनी इहलीला समाप्त की। इनके पद भक्त-हृदय को बहुत ही द्रवित करने वाले हैं। कुलशेखर ने अपने एक पद[3] मे भगवान् से यह प्रार्थना की है कि अगले जन्म मे वे इन्हें कम से कम वह सीढ़ी बना दें जिस पर चढ़कर भक्त भगवान के दर्शन के लिए देवालय में प्रवेश करते हैं। आज भी वैष्णव मन्दिरों की सबसे ऊँची सीढ़ी को 'कुलशेखर सोपान' कहते हैं।

रचनाएँ

कुलशेखराळवार के नाम से दो रचनाएँ मिलती हैं। एक तमिळ भाषा मे है और दूसरी संस्कृत में है। इनकी तमिळ-रचना 'पेरुमाळ तिरुमोळी' कहलाती है, जिसमें १०५ पद हैं। केवल ये ही तमिळ पद 'दिव्य-प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। इनकी संस्कृत-रचना 'मुकुन्दमाला' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें ४० श्लोक हैं।

श्री के० रामपिशारठी[4] "मुकुन्दमाला" को कुलशेखराळवार कृत नहीं मानते। उनका तर्क यह है कि चूँकि कुलशेखर के नाम से एक से अधिक राजा केरल में हुए

१. पेरुमाळ तिरुमोळी १ : ६।
२. इसे विद्वान् अप्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।
३. पेरुमाळ तिरुमोळी ४ : ६।
४. श्री मुकुन्दमाला—संपादक : श्री के० रामपिशारठी (भूमिका-भाग), प्रकाशक : अन्नामलै विश्वविद्यालय।

अष्टाक्षर मंत्र" का सफल प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है।[1] १७ वी शती के श्री राघवानन्द ने इस पर टीका लिखी है जो "मुकुन्दमाला-तात्पर्य-दीपिका" नाम से प्रसिद्ध है। सांसारिक माया-मोह के जाल से मुक्त होकर सर्वदा भगवान् के गुण-गान में तल्लीन रहने का उपदेश दिया गया है। कवि ने कृष्ण-भगवान् की विभिन्न लीलाओ की ओर भी संकेत किया है।

पेरियाळवार (विष्णु-चित्त)

आळवारों में "पेरियाळवार" का एक विशिष्ट स्थान है। "विष्णुचित्त" इनका बचपन का नाम था। जाति के ये ब्राह्मण थे।[2] इनकी रचनाओ मे इनके ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने तथा पांडिय राज्य के अन्तर्गत प्रसिद्ध श्री विल्लिपुत्तूर नामक गाँव में इनका जन्म होने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इन्होने अपनी रचनाओ में अनेक स्थलों पर अपने समकालीन पांडिय राजा "वल्लभदेव पांडियन" का उल्लेख किया है। वल्लभ देव (शासनकाल : ईस्वी ७४०-७६७) ने इन्हे अपने ज्ञान-गुरु के रूप मे अपनाया था।[3] अतः अधिकांश विद्वान् इनका जीवन-काल आठवी शती में मानते हैं।[4] इन्हें उक्त राजा ने "पट्टर पिरान" (श्रेष्ठ ब्राह्मण) की उपाधि भी प्रदान की थी।

गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार पेरियाळवार के पिता का नाम मुकुन्दाचार्य था और माता का नाम पद्मा था। बचपन से ही विष्णुचित्त का चित्त विष्णु की उपासना में रम गया था। ये साधारण बालको से विलक्षण प्रतीत होते थे और अपना अधिकांश समय भगवद्-ध्यान मे व्यतीत करते थे। शास्त्राध्ययन इनका विशेष न हो सका। इन्होंने एक कथावाचक पौराणिक से कृष्ण-कथा-प्रसंग मे यह श्लोक "प्रसाद-परमौ नाथौ मम गेहमुपागतौ। धन्योऽहमर्चयिष्यमीत्याह माल्योपजीवनः"[5] सुनकर यह निश्चय किया कि प्रतिदिन श्री भगवान् के श्रीचरणों में पुष्पमालाओं का समर्पण करना ही भगवन्मुखोल्लास को बढ़ाने वाला श्रेष्ठ कार्य है। तत्पश्चात् इन्होने एक सुन्दर बगीचा लगाया। नित्य नवीन सुमनो का चयन कर उनकी मालाएं गूँथकर स्थानीय विष्णु-मन्दिर के "वटपत्रशायी" के चरणो मे अर्पित करते थे और अधिकांश समय मन्दिर में ही व्यतीत करते और विष्णु-सहस्त्रनाम को गाया करते थे।

---

१. श्री मुकुन्दमाला (भूमिका-भाग)—श्री के० राम पिशारठी, प्रकाशक : अन्नमलै विश्वविद्यालय।
२. श्री हेमचन्द्रराय चौधरी ने अपने ग्रन्थ "अर्लो हिस्टरी आफ दी वैष्णव सेक्ट" (पृ० ११०) में गलती से इन्हें "परया" जाति में उत्पन्न बताया है।
३. भगवानै वळर्त्त भक्तर—श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० ५९।
४ काळनिर्णं—श्री एम० राघव अय्यगार, पृ० ६६
५. दिव्य सूरि चरितामृतम् श्री पी० बी० पृ० १७

कहते हैं कि तत्कालीन पांडिय राजा वल्लभदेव ने शास्त्र-मर्मज्ञों की एक सभा बुलायी थी और यह घोषणा की थी कि जो विद्वान् उस सभा में आकर वैदिक प्रमाणों का निरूपण कर ठीक तरह से परब्रह्म को निर्धारित करेंगे उन्हें पुरस्कार और गौरव प्रदान किया जायेगा। एक दिन "वटपत्रशायी" ने स्वप्न में प्रकट होकर पेरियाळ्वार को आदेश दिया कि पांडिय राजा के दरबार में जहाँ विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि शास्त्रार्थ में भाग ले रहे हैं, तुम भी शामिल होकर शाश्वत आनन्द की उपलब्धि का मार्ग दिखाकर मेरे प्रेम और भक्ति का महत्व सर्वसाधारण को बता दो। विष्णुचित्त ने इस कठिन कार्य के लिए अपने को कम योग्य समझा। परन्तु भगवान् की आज्ञा का पालन करना तो था ही, अतः भगवान् पर भरोसा रखकर वे पांडिय राजधानी मदुरा में आकर राजा द्वारा संगठित विद्वानों की गोष्ठी में शामिल हुए। इन्होंने विभिन्न धर्मावलम्बी पंडितों की उठाई गई समस्त शंकाओं का समाधान प्रस्तुत कर उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया और यह साबित किया कि श्री लक्ष्मी-नारायण ही पर देवता हैं जिनके चरणों में शरण लेना ही श्रेयस्कर है और मोक्षदायक है। राजा ने विष्णुचित्त के अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर उन्हें विजयी घोषित किया। आळ्वार को पुरस्कार के साथ "भट्टर पिरान्" की उपाधि भी प्राप्त हुई। राजा ने आळ्वार को सम्मानित करने के लिए उन्हें हाथी पर बिठाकर नगर में एक जुलूस निकाला। कहा जाता है कि उस समय श्री विष्णुचित्त ने अपनी प्रतिष्ठा को भगवदनुग्रह का ही फल समझकर आकाश की ओर देखा तो साक्षात् विष्णु महालक्ष्मी के साथ गरुडारूढ़ होकर प्रकट हुए। विष्णुचित्त ने अपने उपास्य देव के दर्शन कर अपने जीवन को धन्य समझा। भगवान् की दिव्य-मंगल-शोभा को देखकर इनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। परन्तु उनके मन में एक विचित्र चिन्ता पैदा हुई कि भगवान् की वह सौन्दर्य-राशि बिगड़ न जाय। उसके लिए इन्होंने प्रार्थना की कि वह अनुपम सौन्दर्य सहस्रों, करोड़ों वर्ष शाश्वत रहे।[1] जहाँ दूसरे आळ्वारों ने भगवदनुग्रह की ही याचना की है, श्री विष्णुचित्त ने स्वयं भगवान् को भी असीम वात्सल्य से मंगल-कामनाएँ अर्पित कीं। इसी कारण इन्हें "पेरियाळ्वार" अर्थात् "महान् आळ्वार" विरुद प्राप्त हुआ।[2]

पांडिय राजधानी से प्राप्त धन-राशि को लेकर पेरियाळ्वार अपने निवास-स्थान श्री विल्लिपुत्तूर को लौट आये और उस धन को अपने इष्टदेव की सेवा में अर्पित करने की इच्छा से "वटपत्रशायी" के मन्दिर के "गोपुर" को बनाने में लगा दिया। तत्पश्चात् श्री वे पूर्ववत् सुमन-चयन कर मालाएँ गूँथने और "वटपत्रशायी" के चरणों में अर्पित करने के दिव्य-कार्य में लगे रहे। पुष्पांजलि के साथ गीतांजलि

भी करते रहे। ये संस्कृत के भी बड़े पण्डित थे। कहा जाता है कि कल्पसूत्रो पर इन्होंने एक टीका लिखी।[1]

रचनाएं

पेरियाळवार के पद "तिरुपल्लांडु" तथा "पेरियाळवार तिरुमोळी" नामक दो संग्रहों में मिलते हैं और ये पद "दिव्य-प्रबन्धम्" के प्रथम भाग में प्रारम्भ में दिये गए हैं। "तिरुपल्लांडु" में १२ पद हैं। इसमें पेरियाळवार ने यह मंगल-कामना की है कि भगवान् का अनुपम सौन्दर्य करोड़ों वर्ष तक शाश्वत रहे। कवि ने इन पदो मे विष्णु के विभिन्न अवतारो का भी स्मरण किया है तथा भक्तों को सदैव भगवत्सेवा में ही तल्लीन रहने का उपदेश दिया है। "तिरुपल्लांडु" का धार्मिक महत्व अत्यधिक है। "नित्य पाठ" में इसको स्थान प्राप्त है तथा इसका पाठ श्री वैष्णवो के घरो मे प्रतिदिन होता है।[2]

'पेरियाळवार तिरुमोळी' में आळवार के ४६१ पद सगृहीत हैं। बाल कृष्ण की मधुर-लीलाओं में कवि का मन रम गया है। अतः कवि ने कृष्ण के शिशु-रूप और सारल्य से आकर्षित होकर हृदय-द्रावक मार्मिकता के साथ बालकृष्ण की विविध चेष्टाओं का वर्णन कर वात्सल्य रस की ऐसी अद्भुत धारा प्रवाहित की है, जो समस्त तमिळ-साहित्य में कहीं भी देखने को नहीं मिलती। इसमें कृष्ण का जन्मोत्सव, गोकुल में हर्षोल्लास, कृष्ण को पालने में रखकर यशोदा का लोरी गाना, कृष्ण का चन्दा-मामा को बुलाना, कर्ण-वेध संस्कार, दृष्टिदोष परिहार, माखन-चोरी, गोपियों की यशोदा से शिकायतें, कृष्ण को गाय चराने वन भेजने पर यशोदा का विलाप, कृष्ण के अपार सौन्दर्य पर गोपियो का मोहित होना, मुरली-माधुरी आदि अनेक प्रसंगों का सरस वर्णन है। शिशु के लोटने, मचलने, किलकने, रोने, हँसने आदि का कवि ने मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। शैशवकाल की विभिन्न अवस्थाओं में शिशु की चेष्टाओं में होने वाले परिवर्तनो की मानो मनोवैज्ञानिक व्याख्या इसमे हुई है। वास्तव में सैंकड़ों वर्षों से बच्चों को खिलाते, पिलाते, सुलाते और प्यार करते समय तमिळ-प्रदेश की माताएँ जो मधुर लोक-गीत गाया करती थी, उनको साहित्यिक रूप देकर पेरियाळवार ने तमिळ साहित्य की महान् सेवा की है। 'पिल्ळै तमिळ' कहलाने वाली इन गीतों की शैली के प्रणेता स्वयं पेरियाळवार ही माने जाते हैं। इनके बाद अनेक कवियों ने इस विशिष्ट 'पिल्ळै तमिळ' काव्य-शैली को अपनाया। पेरियाळवार के कुछ पदों में राम-कथा के कुछ प्रसंगों का भी वर्णन मिलता है।

आंडाळ (गोदा)

वैष्णव-संत-कवयित्री आंडाळ का तमिळ के भक्ति-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। 'आळवार' नाम से प्रसिद्ध वैष्णव-भक्त कवि-समूह में आंडाळ ही एक मात्र

1 Dr K. C. Varadachari *J S V O T* Vol II 1949) p 454
2. *History of Tamil Literature*—E S V ja Iyer p 277

श्री रंगनाथ के मन्दिर में पेरियाऴ्वार ने विधिपूर्वक विवाह-संस्कार कराकर आंडाऴ को भगवान् को समर्पित किया। आंडाऴ अपनी अभिलाषा को पूर्ण देखकर बहुत प्रसन्न हुई। गर्भगृह में प्रवेश कर भगवान् की शेष-शैया पर चढ़ी तो एक दिव्यालोक सा वहाँ व्याप्त हो गया और आंडाऴ विष्णु की चरण में स्थित उस ज्योति के द्वारा भगवान् में समा गई। इस प्रकार आंडाऴ ने अपने प्रेम द्वारा भगवान् को जीत लिया। 'आंडाऴ' (अर्थात् भगवान् पर प्रभावित्व करने वाली) शब्द भी इस घटना को सूचित करने वाला है। दक्षिण के सभी वैष्णव मन्दिरों में अब भी प्रतिवर्ष आंडाऴ का विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाता है। गुरु-परंपरा ग्रन्थों के अनुसार आंडाऴ की आयु अन्तर्धान के समय १६ वर्ष की थी।

यद्यपि पेरियाऴ्वार को अपनी पुत्री आंडाऴ को भगवान् को सौंपकर 'ससुर' बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, तो भी पुत्री का वियोग उन्हें असह्य हो गया। अपने निवास-स्थान श्री विल्लीपुत्तूर को लौट आने पर, पुत्री की अनुपस्थिति में सारा वातावरण उन्हें सूना दीख पड़ा। पुत्री के वियोग में उन्होंने अनेक पद गाये हैं। एक पद में वे कहते हैं—"मेरी एक पुत्री थी जिसकी कीर्ति समस्त संसार में फैली थी। पर अब उसे अरविन्द नेत्रों वाला माधव उठा ले गया। अब मैं उस अनुपम पुत्री को कहाँ पाऊँ?"[1]

रचनाएँ

आंडाऴ महान् भक्त होने के साथ ही, उच्च कोटि की कवयित्री भी हैं। इनकी रचनाएँ तमिऴ-साहित्य को ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय साहित्य को गौरव प्रदान करने वाली हैं। कई पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों तथा दार्शनिकों ने मुक्त-कण्ठ से आंडाऴ की रचनाओं की, काव्य कला और विचार-धारा—दोनों की दृष्टियों से बड़ी प्रशंसा की है। आंडाऴ की निम्नलिखित दो प्रसिद्ध रचनाएँ 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं :—

१—तिरुप्पावै,
२—नाच्चियार तिरुमोऴी।

१—तिरुप्पावै

इसमें ३० पद हैं जो विभिन्न राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इनमें तमिऴ-समाज की एक पुरानी प्रसिद्ध प्रथा 'मार्गऴी नोन्बु' (कात्यायिनी व्रत) वर्णित है। महीनों में श्रेष्ठ 'मार्गशीर्ष' में नव युवतियाँ योग्य वर की प्राप्ति के लिए यह व्रत रखती हैं। लोगों का विश्वास है कि इस प्रकार व्रत रखने से व्रत-धारिणियों को ही नहीं, बल्कि वर्षा, धन-धान्य से समस्त देश को भी लाभ पहुँचेगा।[2] तिरुप्पावै के भाव-लोक

१. तिरुमोऴी ३ ८ : ४।
२ १।

की विशेषता यह है कि काल, स्थान की परिधि को लाँघकर आंडाळ स्वयं गोपी बन जाती हैं और अन्य सहेलियों के साथ अपने उपास्य देव 'कृष्ण' के पास व्रत की फल-प्राप्ति के लिए पहुँच जाती हैं। अतः 'तिरुप्पावै' मे आंडाळ ने अपनी ही कहानी कही है। तिरुप्पावै का वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है—'मार्गशीर्ष' की पूर्णिमा के दिन आंडाळ अपनी सखियो से 'मार्गळी नोन्बु' का अनुष्ठान करने के लिए कहती है और यह विश्वास दिलाती है कि भगवान् अवश्य हमारी इच्छित वस्तुओं को प्रदान करेंगे। आंडाळ 'तिरुप्पावै' के प्रारम्भ के कुछ पदों में 'मार्गळी नोन्बु' की विशेषता, तथा विधि-विधान आदि का वर्णन करती है।[1] इस व्रत का प्रधान अंश—उषाकाल में उठकर स्नान कर आना है। अतः आंडाळ अपनी सहेलियो से सबेरा हो जाने की सूचना देती हैं और निद्रा तजकर अपने साथ चलने को कहती हैं।[2] जब सभी सखियाँ एकत्र हो गयीं तो आंडाळ कृष्ण तक पहुँचने के लिए सफल मार्ग का अन्वेषण करती हैं और सखियों के दल को लेकर कृष्ण भगवान् के निवास-स्थान की ओर चलती हैं। द्वार-पालक से अपना परिचय इस प्रकार देती है कि हम गोपियाँ, श्रीकृष्ण भगवान् को गीत गाकर जगाने के लिए आयी हैं और द्वारपालक से प्रार्थना करती हैं कि वह उनके आने का समाचार श्रीकृष्ण तक पहुँचा दे।[3] अब आंडाळ कृष्ण से मिलने से पहले, उनकी प्रिया 'नप्पिन्नै' (तमिळ की 'राधा') से निवेदन करती हैं कि वे उन्हे श्रीकृष्ण से मिलने दें।[4] 'नप्पिन्नै' को प्रसन्न करने के पश्चात् आंडाळ श्रीकृष्णचन्द्र का यशोगान करती हैं और श्रीकृष्ण को जगाती हैं। श्रीकृष्ण से सखियो सहित अपने आने का कारण बताती हैं और प्रार्थना करती है कि उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाएँ।[5]

इन पदो में आंडाळ के भक्ति-भाव और तत्कालीन ग्राम्य जीवन के सौन्दर्यपूर्ण सजीव चित्र देखने को मिलते हैं। प्रकृति का भी रसपूर्ण वर्णन है। 'तिरुप्पावै' का धार्मिक महत्व अत्यधिक है। वैष्णव मन्दिरो मे और वैष्णवोपासकों के घरों मे 'मार्गशीर्ष' महीने के तीसों दिन अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ 'तिरुप्पावै' के पद गाये जाते हैं। आंडाळ द्वारा प्रचारित यह 'मार्गली व्रत' समस्त दक्षिण भारत में ही नही, सुदूर स्याम देश मे भी शताब्दियों से मनाया जाता है।[6]

२—नाच्चियार तिरुमोली

इसमें १४३ स्फुट पद हैं। पद विभिन्न राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इसमे लीलानायक कृष्ण को अपना प्रियतम और अपने को उनकी प्रेमिका मानकर रचे गये

---

१. तिरुप्पावै—पद १ से ५ तक
२. वही, पद ६ से १५ तक
३. वही, पद १६
४. वही, पद १७ से २० तक
५. वही, पद २१ से ३० तक
६. श्री पी० श्री आचार्य का लेख : *"Voice and Vision of Andal"*, Souvenir All India Writers Co , 1959, p 154

कर संन्यासी की तरह जीवन बिताते रहे। ये अपने को 'भगवान् के दासों का दास' कहना पसन्द करते थे और भक्तो की सेवा को भगवत्सेवा के तुल्य समझते थे। अतः इन्हें तोंडरडीपोडी आळवार (भक्तांघ्रिरेणु) अर्थात् 'भगवद् दासों के चरणो की धूलि' कहकर लोग पुकारने लगे। सम्प्रदाय मे इन्हे विष्णु की वनमाला का अङ्ग माना जाता है।

तोंडरडीपोडी आळवार के जीवन-काल का निर्णय करने में कठिनाई है। इनकी रचनाओ में उपलब्ध कुछ उल्लेखों के आधार पर इनका समय आठवी शती के उत्तरार्द्ध मे माना जा सकता है।[1] कुछ विद्वान् इन्हे तिरुप्पाण आळवार तथा तिरुमंगे आळवार का समकालीन मानते है।[2]

तोंडरडीपोडी के सम्बन्ध मे एक कथा बहुत ही प्रसिद्ध है। इसकी पुष्टि मे आळवार के कुछ पद प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि एक दिन प्रातःकाल ये नियमानुसार अपने तुलसी-वन में भगवान् का नाम-स्मरण करते हुए क्यारियो को सुधार कर पानी लगाने में व्यस्त थे। उस समय देवदेवी नामक एक वेश्या चोल-नरेश के कला-भवन में अपने नृत्य, गीत आदि का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन कराकर तथा पुरस्कार प्राप्त कर अपनी बहिन तथा सखियों के साथ लौट रही थी। आळवार के तुलसी-वन ने उनको इतना आकर्षित कर दिया कि वही थोडी देर विश्राम कर जाने की इच्छा से प्रेरित होकर तुलसी-वन में आ घुसी। दूर से ही तेजस्वी नवयुवक संन्यासी आळवार को देखकर देवदेवी उन पर मुग्ध हो गयी। परन्तु देवदेवी के मनमोहन रूप-सौन्दर्य का कुछ भी असर आळवार पर नहीं पड़ा। देवदेवी ने, जिसको अपने रूप का गर्व था, आळवार के इस तिरस्कार-भाव को देखकर मन-ही-मन निश्चय किया कि मैं इनको अपने वश मे करके ही यहाँ से जाऊँगी। उसकी बहिन तथा अन्य सखियों ने उसे समझाया कि यह महात्मा बडे विरक्त हैं और इन पर नारी-सौन्दर्य कुछ भी असर कर नहीं सकेगा और इनके मन को विचलित नहीं कर सकेगा। देव-देवी ने उनकी बात नहीं मानी और यह कहकर उन्हे भेज दिया कि मैंने यह प्रण कर लिया है कि इन्हें किसी-न-किसी तरह अपने वश मे करके ही यहाँ से लौटूँगी। देवदेवी गेरुआ वस्त्र पहनकर तोंडरडीपोडी आळवार के सम्मुख जाकर उनके चरणों में नत हुई। आळवार ने यह पूछा कि तुम कौन हो और यहाँ क्यो आयी हो? देवदेवी ने हाथ जोड़कर कहा कि मैं वेश्या हूँ। अब उस जीवन से मुझे घृणा पैदा हो गई है और अपना उद्धार करने की इच्छा से आपके पास आई हूँ। आप मुझ पर दया कर, इस उपवन में रहने दें और श्री रंगनाथ की सेवा में मुझे भी अपना जीवन व्यतीत करने का अवसर दें। तोंडरडीपोडी ने अपनी सहज सरलता के कारण देवदेवी की बातों पर विश्वास कर उसे वहाँ रहने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् देवदेवी तुलसी-वन की वृद्धि मे आळवार

---

१. **आळवारकळ अरुळमोळी**—स्वामी चिदम्बरनार, पृ० ७५।
2. *History of Sri Vaisnav* T A Gopinath Rao, p 26

को सहायता करने लगी। कुछ समय के पश्चात् एक दिन जब देवदेवी फूल चुन रही थी, तब बड़े जोर से वर्षा होने लगी। आळवार को भोली देवदेवी पर दया आयी और उन्होंने उसे अपनी कुटिया के अन्दर बुला लिया। बहुत देर तक पानी का बरसना बन्द नहीं हुआ तो देवदेवी को उसी कुटिया में रह जाना पड़ा। अनुकूल अवसर पाकर देवदेवी ने युवक संन्यासी से अपने शरीर को स्वीकार करने की प्रार्थना की और अपने रूप-लावण्य से उनके मन में काम की ज्वाला उत्पन्न कर दी। भक्त का चित्त चलायमान हो गया और भगवान् की कर-सेवा से हटकर गर्हित नारी की ओर जा चिपका। देवदेवी जिस उद्देश्य के लिए आयी थी, आखिर उसकी पूर्ति हुई। देवदेवी के प्रेम-पाश में पड़कर आळवार ने भगवान् को विस्मृत कर दिया। कुछ समय के बाद जब देवदेवी ने अनुभव किया कि इस संन्यासी के साथ रहने में विशेष आनन्द नहीं है, तो वह उन्हें छोड़कर अपने घर में चली गयी। भगवान् को भक्त की इस दशा पर दया आई। एक रात को कोई अपने को तोंडरडिप्पोडि आळवार का सेवक बताकर सोने की एक थाली देवदेवी के घर दे आया, जिससे प्रसन्न होकर देवदेवी ने आळवार को पुनः अपने पास बुला लिया। परन्तु वह स्वर्ण-थाल राजमहल का था। अतः दूसरे ही दिन आळवार चोरी के अपराध में पकड़े गये और उन्हें कारागार का दण्ड मिला। कहते हैं कि फिर श्रीरंगनाथ ने राजा के स्वप्न में प्रकट होकर आळवार को मुक्त कर देने की आज्ञा दी। आळवार को अपने अपराध पर पश्चात्ताप हुआ। अब उन्होंने जेल से ही नहीं, नारी-प्रेम से भी मुक्त होकर, फिर से भगवत्सेवा तथा भक्ति में तन-मन को लगाया। आळवार की यह धारणा थी कि भागवतों की सेवा भगवत्सेवा से भी श्रेष्ठ है। वे मन्दिर में आने वाले समस्त भक्तों की चरण-धूलि का सेवन कर भजन-कीर्तन में रत रहने लगे।

रचनाएँ

तोंडरडिप्पोडि आळवार की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं :—

१—तिरुमालै,

२—तिरुप्पळ्ळि एळुच्चि।

'तिरुमालै' का अर्थ है 'पवित्र माला'। इस काव्य को 'गीतांजलि' कह सकते हैं। यह ४५ पदों का एक गीत-संग्रह है। अधिकांश पद आत्मनिवेदनपरक हैं। कवि ने भगवान् के सम्मुख अपनी दीनता का प्रकाशन कर अपने को उनके दासानुदास के रूप में अङ्गीकार करने की प्रार्थना की है। इसमें उत्कृष्ट भक्ति भावना के साथ, काव्य सौन्दर्य भी झलकता है। तमिळनाडु में एक प्रसिद्ध कहावत है—'तिरुमालै अरियान, तिरुमालै अरियान' अर्थात् जो 'तिरुमालै' को नहीं जानता, वह 'तिरुमाल' (विष्णु) को नहीं जानता। इससे 'तिरुमालै' का महत्व स्पष्ट होता है।

तोंडरडिप्पोडि आळवार की दूसरी रचना 'तिरुप्पळ्ळि एळुच्चि' विशेष महत्व की है, क्योंकि इसको 'नित्यानुसन्धान पाठ' अर्थात् 'नित्यपाठ' में स्थान प्राप्त है। अब इसका गायन नित्यप्रति प्रातःकाल प्रत्येक विष्णु मन्दिर में होता है, जिससे इस रचना

ा धार्मिक महत्व जाना जा सकता है। 'तिरुपल्ली एलच्ची' से तात्पर्य 'भगवान् को गाने के सुप्रभात गीतों' से है। इसमें केवल १० ही पद है। प्रत्येक पद मे प्रात:काल होने की सूचना देने वाले प्राकृतिक लक्षणो का वर्णन कर भगवान् से अपनी शैया से उठने की प्रार्थना की गई है। प्रत्येक पद मे प्रात:कालीन वातावरण का सुन्दर चित्रण है। प्रकृति के ऐसे सुन्दर सजीव चित्र अन्यत्र विरले ही मिलते है। पदो मे शब्द-चयन चित्ताकर्षक है।

तिरुप्पाण आळवार (योगीवाहन)

तिरुप्पाण आळवार को 'मुनिवाहन' अथवा 'पाण पेरुमाळ' भी कहा जाता है।[1] इनका जीवन-वृत्त तिमिराछिन्न है। गुरु-परम्परा-ग्रन्थो में इनको 'अयोनिज' कहा जाता है। इनका जन्म-स्थान श्रीरंगम् के दक्षिण भाग में कावेरी नदी के किनारे पर स्थित 'उरँयूर' गाँव था। कहा जाता है कि ये उरँयूर के किसी ब्राह्मण के खेत में पड़े हुए थे। वहाँ से 'पाणन' कुल का एक व्यक्ति इन्हे ले आया और उसी ने इनका पालन-पोषण किया। 'पाणन' कुल के लोग गायक होते थे और वे राजाओ और धनी लोगों के यहाँ वीणा आदि वाद्य-यन्त्रो के साथ गायन कर उनसे पुरस्कार प्राप्त कर जीविका चलाने वाले थे। एक समय तमिळ-समाज में उन्हे बड़ा गौरव प्राप्त था। परन्तु हमारे आळवार के समय मे 'पाणन' जाति एक निम्न जाति मानी जाती थी। 'पाणन' कुल में पलने के कारण आळवार का नाम भी 'तिरुप्पाण' ("पवित्र-प्राण") पड़ा।

गुरु-परम्परा-ग्रन्थो मे तिरुप्पाण आळवार का जीवन-वृत्त बहुत ही संक्षिप्त रूप में मिलता है। इनकी रचना में भी कही इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने वाला कोई भी उल्लेख नहीं है। इनके समय का निर्णय करने के लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं है। गुरु-परम्पराओ के अनुसार इनका जन्म कलियुग के ३४३ वें वर्ष में हुआ था। तोंडरडीपोडी आळवार ने अपने एक पद मे कदाचित् 'तिरुप्पाण' का ही स्मरण कर यह लिखा है—"हे भगवान्, नीच जाति मे उत्पन्न होने पर भी अपने भक्त होने के कारण तुमने भक्त को अपने पास बुला लिया और यह साबित किया कि नीच वह है जो तुम्हारा भक्त नहीं, चाहे वह उच्च कुलोत्पन्न क्यों न हो।"[2] अधिकांश विद्वान् अनुमानतः तिरुप्पाण आळवार को तोंडरडीपोडी आळवार का समकालीन मानकर उनका समय आठवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा नवी शती के पूर्वार्द्ध में निश्चित करते हैं।

जनश्रुतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तिरुप्पाण आळवार बचपन से ही गायन-विद्या मे निपुण थे। वीणा बजाकर ये मधुर गीत गाया करते थे

---

१. द्राविड़ मुनिवरकळ—श्री राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ३८।

२ तिरुमालै—पद ४१।

और योग मन्त्र-मुग्ध से होकर झूमते थे। स्वयं भी वे भक्ति-भाव पद गा गाकर समाधावस्था में मूर्छित हो जाते थे। सम्प्रदायवादियों के अनुसार ये 'भगवद् नाम विषय सार्वभौम' के नाम से भी ज्ञात हैं।

तिरुप्पाण आळ्वार श्रीरंग वैष्णव भक्त थे। उन दिनों श्रीरंगम् का मन्दिर वैष्णव भक्तों का मुख्य केन्द्र था। चूँकि आळ्वार की 'पाणन जाति' निम्न कोटि की मानी जाती थी और उस जाति के लोग अन्त्यज माने जाते थे, इसलिए वे विष्णु के अर्चावतार रूप श्री रंगनाथ के मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकते थे। इनके जीवन की सबसे बड़ी कामना यही थी कि श्रीरंगनाथ के सौन्दर्य स्वरूप के दर्शन कर अपने जीवन को धन्य बनायें। परन्तु 'पाणन' कुलोत्पन्न होने के कारण मन्दिर में प्रवेश करने के भाग्य से वंचित रहे। अतः वे कावेरी के दक्षिणी तट पर एक कुटी बनाकर रहने लगे और वहीं खड़े होकर श्रीरंगनाथ के मन्दिर की ओर देखते हुए प्रतिदिन श्रीरंगनाथ की स्तुति में गीत गाते रहे। मधुर गीत गा गाकर आत्मविभोर हो जाते थे और इन्हें अपने शरीर की सुध बुध नहीं रहती।

कहा जाता है कि भगवान ने तिरुप्पाण की भक्ति भावना से प्रसन्न होकर इन्हें मन्दिर में प्रवेश कराकर अपने दिव्य दर्शन देने का निश्चय किया और इसके लिए एक उचित अवसर की ढूँढ़ा। एक दिन एक विचित्र घटना घटी। श्री रंगनाथ के मन्दिर का 'लोकसारंग' नामक एक ब्राह्मण पुजारी अपने साथियों के साथ श्री रंगनाथ की मूर्ति के अभिषेक के लिए घड़े में कावेरी-जल लेकर आ रहा था। कावेरी-तट से मन्दिर की ओर आते समय उन लोगों ने देखा कि तिरुप्पाण आळ्वार मार्ग के समीप भगवद् भजन में तल्लीन होकर वीणा बजाते हुए समाधावस्था में बैठे हुए हैं। यह सोचकर कि तिरुप्पाण निम्न जाति का है और इसलिए अपवित्र है, उन लोगों ने तिरुप्पाण से मार्ग से दूर हट जाने के लिए कहा। चूँकि आळ्वार भगवद् भजन में समाधिस्थ थे, इसलिए वे उन लोगों की आवाज न सुन सके। पुजारी सहित अन्य लोग आळ्वार को वहाँ से भाग जाने के लिए जोर से आवाज में चिल्लाने लगे। परन्तु तिरुप्पाण भजन में इतने मस्त थे कि उनके चिल्लाने का कोई असर उन पर न पड़ा और वे टस से मस न हुए। 'लोक सारंग' को बड़ा क्रोध आया और अहंकारवश उसने एक पत्थर आळ्वार पर फेंक दिया। आळ्वार के सिर पर चोट लगी और खून बह निकला। तब तिरुप्पाण जाग उठे और क्षमा-याचना करते हुए वहाँ से चले गये। लोकसारंग को अपने क्रूर कार्य पर पश्चात्ताप होने लगा। जब वह उस दिन रात को चिन्ताग्रस्त होकर सो रहा था, तब श्री रंगनाथ ने स्वप्न में प्रकट होकर आदेश दिया - "तुम्हारे फेंके हुए पत्थर से मेरे सिर पर ही चोट लगी है। तुमने बड़ा अन्याय किया है। तिरुप्पाण मेरे श्रेष्ठ भक्त, प्रिय और दास हैं। अतः तुम अपने प्रायश्चित्त के रूप में उन्हें अपने कन्धों पर बिठाकर लाओ और मेरे सम्मुख उपस्थित करो। यही तुम्हारे पाप का उचित प्रायश्चित्त है।" दूसरे दिन प्रातःकाल लोकसारंग मुनि भगवान् की आज्ञा का पालन करने के हेतु के पास आया और उसने आळ्वार से क्षमा

माँगी। भगवान् का आदेश सुनाकर, आळवार को अपने कन्धो पर बिठाकर श्री रंगनाथ के मन्दिर मे ले आया। 'मुनि की पीठ' पर आरुढ़ होकर मन्दिर के अन्दर प्रवेश करने के कारण आळवार को 'मुनिवाहन' भी कहा जाता है। कहते हैं कि श्री रंगनाथ के मन्दिर मे प्रवेश कर तथा मूर्ति के सौन्दर्य का आस्वादन कर तिरुप्पाण आळवार को उतना आनन्द मिला जितना अन्धे को दृष्टि मिलने पर। आत्म-विभोर होकर आळवार ने भगवान् के सौन्दर्यपूर्ण प्रत्येक अंग का वर्णन (नख से शिख तक) किया और भगवान् की स्तुति में अनेक पद गाये। अन्तिम पद[1] में इन्होने गाया कि—"जिन आँखों से इस अलौकिक शाश्वत सौन्दर्य को देखा है, वे किसी दूसरी वस्तु को न देखें।" कहते हैं जब आळवार ने भगवद् सौन्दर्य-वर्णन समाप्त किया, तब वहाँ दिव्यालोक-सा सर्वत्र व्याप्त हो गया और उस ज्योति मे तिरुप्पाण आळवार अन्तर्धान हो गये। गुरु-परम्परा ग्रन्थों के अनुसार उस समय आळवार की आयु ५० वर्ष की थी।[2]

रचनाएँ

'अमलनादिपिरान' तिरुप्पाण आळवार की एक मात्र रचना है। यह १० पद्यों वाली एक कविता है। इस कविता का आरम्भ 'अमलन', 'आदिपिरान' आदि भगवद् गुण विशेषणों से होने के कारण इसका नाम 'अमलनादिपिरान' रखा गया। तिरुप्पाण आळवार की अन्य रचनाएँ उपलब्ध नही होतीं। 'अमलनादिपिरान' मे श्री रंगनाथ के अद्भुत सौन्दर्य का नख से शिख तक वर्णन है। प्रत्येक पद्य में विष्णु की विभिन्न लीलाओ की ओर, विशेषकर कृष्ण लीलाओं की ओर संकेत है। दसो पद्यो में दस अंगों का वर्णन है।

'अमलनादिपिरान' का धार्मिक महत्व अत्यधिक है। इसको वैष्णव मन्दिरो मे 'नित्यानुसंधान' अर्थात् 'नित्य-पाठ' मे स्थान प्राप्त है। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने जिनके अनेक ग्रन्थ तमिळ और संस्कृत—दोनो भाषाओ मे मिलते हैं, आळवारो की रचनाओं में से केवल 'अमलनादिपिरान' पर ही टीका लिखी है। उसका नाम है 'मुनिवाहन-भोगम्'। इससे इसका धार्मिक महत्व जाना जा सकता है।

तिरुमंगै आळवार (परकाल)

आळवार-परम्परा मे तिरुमंगै आळवार अन्तिम आळवार माने जाते हैं। सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु का शारंगांश माना जाता है। इस अळवार का जन्म चोल राज्य में 'तिरुवाली तिरुनगरी' नामक दिव्य-क्षेत्र के पास अवस्थित 'तिरुकुरैयलूर' नामक स्थान मे हुआ था। इनकी जाति का नाम कल्ळर था। इस जाति के लोग जंगली पहाड़ो मे वास कर लूटमार से जीविका चलाने वाले व्याध थे। इनके पित

1. अमलनादिपिरान—पद्य सं० १०।
2. दिव्य सूरि चरितामृतम—श्री पी० बी० पृ० २८।

चोल राजा के यहाँ सेनापति थे। तिरुमंगै का पहला नाम 'नीलन' था। 'कलियन', 'अरुळमारी', 'परकालन' आदि कई नामों से भी प्रसिद्ध हैं।[1]

अन्य आळ्वारों की अपेक्षा, इस आळ्वार का जीवन-वृत्त इनकी रचनाओं से प्राप्त अन्य साक्ष्य के आधार पर बहुत कुछ लिखा जा सका है। इन्होंने 'परमेश्वर विण्णगरम्' नामक मन्दिर का उल्लेख किया है, जिसका निर्माण पल्लव नन्दीवर्मन द्वितीय (ईस्वी सन् ७३१ से ७९६ तक जीवित) के शासन-काल में हुआ था। शिलालेखों[2] से भी पता चलता है कि तिरुमंगै आळ्वार का जीवन-काल आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में था। अनेक आधारों को प्रस्तुत कर प्रो० एस० वैयापुरि पिल्लै इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तिरुमंगै आळ्वार ईस्वी सन् ८०० तथा ८७० के बीच में जीवित थे।[3]

तिरुमंगै आळ्वार युद्ध-विद्या में निपुण थे। अतः चोल राजा ने, इनके पिता की मृत्यु के पश्चात् इन्हें अपना सेनापति बना लिया। राजा के विरोधियों को बड़ी आसानी से पराजित कर देने के कारण इन्हें 'परकालन' (अर्थात् शत्रुओं का 'काल'—यम) कहते थे। इनकी वीरता से प्रसन्न होकर चोल राजा ने इन्हें 'तिरुमंगै' नामक प्रदेश का सामन्त राजा बना दिया। तत्पश्चात् ये 'तिरुमंगै मन्नन' के नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार युद्ध-कला में कुशल थे, उसी प्रकार संगीत, नृत्य, नाटक, काव्य-कलाओं में भी ये पारंगत थे। ये तमिळ और संस्कृत—दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित सिद्ध हुए। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन्होंने अपने पूर्व के तमिळ-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है और अपनी रचनाओं में विभिन्न काव्य-शैलियों को कुशलतापूर्वक अपनाया है। आळ्वार भक्त-कवियों में सबसे श्रेष्ठ साहित्यिक मर्मज्ञ ये ही हैं।

तिरुमंगै बड़े ही रसिक थे। अपने राज्य वैभव तथा जीवन की सारी सुविधाओं के रहने से ये सदा विलासितापूर्ण जीवन बिताते थे। बहुत समय तक ये अविवाहित रहे। इनके विवाह तथा बाद के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि उस समय 'तिरुवेळ्ळक्कुळम' नामक गाँव में एक वैष्णव वैद्य रहते थे जिनके एक रूपवती कन्या थी। लड़की का नाम 'कुमुदवल्ली' था और उसकी लावण्यता इतनी अलौकिक थी कि बड़े-बड़े राजा उससे विवाह करने को इच्छुक हुए। तिरुमंगै ने कुमुदवल्ली के रूप से मोहित होकर उसके पिता से कुमुदवल्ली के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। दो शर्तों पर कुमुदवल्ली, तिरुमंगै से विवाह

---

१. नालायिर दिव्य प्रबन्धम्—सम्पादक : श्री एस० कृष्णमाचारियार—तिरुमंगै वैभवम्, पृ० ४।

2. *Epigraphia Indica*, Vol. IV, p. 334.

3. *History of Tamil Language and* ---- S. Vaiyapuri Pillai, p. 121.

करने को तैयार हुई। एक शर्त यह थी कि सबसे पहले तिरुमंगै को परम वैष्णव भक्त बनना चाहिए। दूसरी शर्त यह थी कि प्रतिदिन १००८ वैष्णव भक्तों को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करना चाहिए। दोनो शर्तों को स्वीकार कर तिरुमंगै ने कुमुदवल्ली से विवाह कर लिया। प्रतिदिन १००८ वैष्णव भक्तो के भोजन का प्रबन्ध किया गया। कुछ समय के अनन्तर तिरुमगै की सारी सम्पत्ति इस कार्य में खर्च हो गयी। यही नही, तिरुमंगै ने इस कार्य मे राजकोष का पूरा धन भी समाप्त कर दिया। चोल राजा को इस बात का पता चला तो उसने तिरुमंगै से राजकोष के सम्पूर्ण धन को लौटा देने की आज्ञा दी। चूँकि तिरुमगै राजा के धन को लौटा न सके, इसलिए उनको गिरफ्तार कर कारगार मे भेज दिया गया। कहा जाता है कि यहाँ रहते हुए तिरुमंगै को दैवी प्रेरणा से काञ्चीपुरम् मे एक स्थान पर जमीन में गढ़ी हुई किसी गुप्त सम्पत्ति का पता चला। आळवार ने इस सम्पत्ति को प्राप्त कर राजकोष का सम्पूर्ण धन लौटा दिया और बन्दीगृह से मुक्त कर दिए गये। कुमुदवल्ली को दिए गये वचन का पालन करने के लिए, जब कोई दूसरा मार्ग न दीख पड़ा तो इन्होने अपने जातीय पेशा डाका-डालना—प्रारम्भ कर दिया। द्रव्य जुटाने के लिए इन्हें क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना पडा। परन्तु लूटमार से जो कुछ भी मिलता उसे वैष्णव भक्तों की सेवा में अर्पित करते थे। कहते हैं कि भगवान् अळवार को सुमार्ग पर लाने के लिए स्वयं एक धनी ब्राह्मण यात्री के रूप मे उस रास्ते से आये, जहाँ तिरुमंगै तथा उनके साथियों ने ब्राह्मण यात्री के सारे धन को लूटा। परन्तु प्राप्त धनराशि को वे उठा नही सके। यह विचार कर कि ब्राह्मण ने किसी मन्त्र को प्रयोग किया होगा, उन लोगो ने यात्री को डाँटकर वह मर्म बताने को कहा। इस पर ब्राह्मण यात्री ने तिरुमंगै को अपने पास बुलाकर उन्हें वेद-सार-रूपी अष्टाक्षर मन्त्र का उपदेश दिया। तिरुमंगै को मालूम हुआ कि वस्तुतः विष्णु भगवान् ही उनका उद्धार करने के हेतु आये हुए थे। उस समय से आळवार के जीवन में महान् परिवर्तन आ गया और वे एक श्रेष्ठ भगवद् भक्त बन गये।

आळवार का वह युग धार्मिक संघर्ष का था और प्रत्येक धर्मानुयायी अपने-अपने धर्म के प्रचार के कार्य मे लगे हुए थे। बौद्ध और जैन धर्म पतनोन्मुख हो चुके थे, यद्यपि पूर्ण रूप से उनकी शक्ति न मिटी थी। शैव सन्त अपने धर्म को श्रेष्ठ साबित कर लोगों को शैव-भक्त बनाने के कार्य में लगे हुए थे। तिरुमंगै ने भी अपने युग की माँग को भली-भाँति समझ कर सारे देश मे घूम-घूमकर वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने बौद्ध तथा जैन धर्मों का खण्डन भी किया था। कहते हैं कि नागपट्टिनम में स्थित भगवान् बुद्ध की स्वर्ण मूर्ति को इन्होंने तोड़ डाला[1] और उससे प्राप्त धन

1. *History of India*, Pt. I, Ancient India, Prof : K. A. Nilakanta Sastri, p. 267.

से श्रीरंगम् के मन्दिर का भीतरी प्राकार (चहारदीवारी) बनवाया।[1] इन्होंने ही श्रीरंगम् के मन्दिर में नम्माऴ्वार के पदों के गायन का प्रबन्ध किया था। ये दक्षिण और उत्तर भारत के सभी प्रमुख वैष्णव स्थलों के — कन्याकुमारी से बदरिकाश्रम तक के वैष्णव केन्द्रों के दर्शन कर आये। इन्होंने इन सभी स्थानों का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। कहा जाता है कि इन्होंने दूसरे मतावलम्बियों के साथ धार्मिक वाद-प्रतिवाद में भी भाग लिया था। एक किंवदन्ति के अनुसार इन्होंने प्रसिद्ध शैव-सन्त तिरुज्ञान संबन्धर को भी धार्मिक चर्चा में परास्त किया था। परन्तु इसका कोई आधार नहीं है।[2] गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार ये १०५ वर्ष तक जीवित रहे और इनका देहान्त 'तिरुक्कुरुंगुडी' नामक स्थान में हुआ।

यह लिखा जा चुका है कि तिरुमंगै आऴ्वार तमिल तथा संस्कृत—दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। ये मधुर कवि और प्रकृति-प्रेमी भी थे। तमिल की कोई भी काव्य-शैली ऐसी नहीं जिसमें इन्होंने मधुर कविताएँ नहीं रची हों। 'आशु', 'मधुरम्', 'चित्रम्', 'विस्तारम्' नाम के चार प्रकार की काव्य शैलियों में सफल रचना करने के कारण इन्हें "नालु कवि पेरुमाळ" (काव्याचार्य) भी कहा जाता है। ये भक्त भी उच्चकोटि के थे। इनके मत के अनुसार मुक्ति सहज प्राप्य है और शरणागति ही मोक्षदायिनी है। इनके सम्बन्ध में एक आलोचक का कहना है कि तिरुमंगै आऴ्वार ऐसे भक्त थे जो "आत्मा को सूर्य की धूप में सुखाना और शरीर को छाया की ठंडक में पालना जानते थे।"

रचनाएँ

संख्या की दृष्टि से 'नालायिर दिव्य-प्रबन्धम्' में संगृहीत पदों में सबसे अधिक पद तिरुमंगै आऴ्वार के हैं। ये सभी पद विभिन्न राग-रागिनियों में हैं। इनकी निम्नलिखित ६ कृतियाँ मिलती हैं :—

१—पेरिय तिरुमोऴि,
२—तिरुक्कुरुन्दाण्डकम्,
३—तिरुनेडुन्दाण्डकम्,
४—तिरुवेऴुकूट्रिरुक्कै,
५—सिरिय तिरुमडल,
६—पेरिय तिरुमडल।

ये छः कृतियाँ वैष्णवों के बीच में 'षडंग' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'पेरिय तिरुमोऴि' में १०८४ पद हैं। अनेक पद तीर्थ-यात्रा करते समय तिरुमंगै आऴ्वार ने जितने भी वैष्णव दिव्य-क्षेत्रों के दर्शन किये थे, उनमें विराजमान विष्णु

१ पन्निरुवर—श्री पी० श्री० आचार्य पृ० ४०।
२ कालनिलै—श्री एम० राघव अय्यंगार, पृ० १६७।

की अर्चावतार-मूर्तियों की स्तुति मे गाये गये है। कवि ने प्रारम्भ के कुछ पदो मे यौवनावस्था में किये गये अपने कुकृत्यों पर पाश्चाताप प्रकट कर भगवान् के चरणो में आत्म-समर्पण की भावना व्यक्त की है। अधिकांश पद दार्शनिक विचारो से भरे पड़े हैं। कृष्ण-कथा के प्रसङ्गों का भी वर्णन मिलता है। कुछ पदो मे तमिळ के सघ-साहित्य की 'अहम' काव्य-शैली मे नायिका की विरह-वेदना, नायक से मिलने की आतुरता, मेघ, कोकिल, भ्रमर इत्यादि द्वारा सन्देश भेजना आदि वर्णित हैं।

'तिरुक्कुरुन्तांडकम्' मे २० पद हैं तथा 'तिरुनेडुन्तान्डकम्' मे ३० पद हैं। इनमें सांसारिक माया-मोह के बन्धनो से विमुक्त होकर परम वात्सल्यमय भगवान् की शरण में जाने का उपदेश है। इस भवसागर को पार करने के लिए उसी को एक मात्र सहायक कहा है। 'तान्डकम्' शब्द का अर्थ है, 'सहायक छडी' जो वृद्धो के लिए चलने में और पर्वत पर चढ़ते समय पैर के न फिसलने के लिए सहायक होती है। एक मात्र भगवान् को ही वह 'सहायक छड़ी' कहा गया है। 'तिरुवेलुकूत्तिरुक्कै' एक लम्बा पद है। इसमें कवि के आत्मसमर्पणपूर्ण भाव व्यक्त किये गये हैं।

'चिरिय तिरुमडल' तथा "पेरिय तिरुमडल' मे तमिळ-समाज की 'मडल' प्रथा का वर्णन है। नायक और नायिका के बीच प्रेम के विकास को कई अवस्थाओं में विभाजित कर वर्णन करने की परम्परा, 'अहम' काव्य-शैली मे मिलती है। पहले यह प्रेम गुप्तावस्था में ही रहता है। धीरे-धीरे विकसित होकर वह उस अन्तिम दशा मे पहुँच जाता है जब नायक लोक-मर्यादा की भी परवाह न कर अपने दृढ़ प्रेम की अग्नि-परीक्षा देने के लिए भी तैयार हो जाता है। अगर उसे अपनी प्रिया की प्राप्ति न करने में बाधा पड़े तो वह 'मडल'[1] पर चढ़कर मरण को प्राप्त करने को धमकी देता है। दोनों 'मडल' कृतियों में तिरुमंगै ने लौकिक प्रेम की तीव्रता स्थापित करने वाली 'मडल' प्रथा का आधार लिया है। परन्तु कवि ने अपने को विरहिणी नायिका मानकर प्रियतम भगवान् को प्राप्त करने के हेतु 'मडल' पर चढ़कर अपने तीव्र प्रेम की परीक्षा देने की घोषणा की है।[2]

१६ वीं शती के हिन्दी-कृष्ण-भक्त कवि

ईसा की सोलहवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट महत्व रखती

---

१. ताड़ के पत्तों का बना घोड़ा जिस पर चढ़कर निराश प्रेमी आत्महत्या करने की घोषणा करता है और अन्त में अपनी प्रेमिका को प्राप्त करता है।

२. जिस प्रकार सूफीमत में ईश्वर तक पहुँचने के लिए विभिन्न-दशायें बतायी गयी हैं और अन्तिम दशा में प्रेम की तीव्र-परीक्षा होती है, उसी प्रकार 'मडल' भी प्रेम की 'अग्नि-परीक्षा' है। प्रेम की इस पराकाष्ठा पर पहुँच कर प्रेम की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सच्चे अटल प्रेम का परिचय देकर प्रेमी—प्रेमिका को पाता है और प्रेमिका—प्रेमी को।

है। धार्मिक भावना को लेकर यह साहित्य रचना उस समन्वयात्मक रूप को प्रस्तुत करती हुई दृष्टिगोचर होती है जिसके पीछे शताब्दियों और सहस्राब्दियों तक की परम्पराएँ निहित हैं। आदर्शवादी भावनाओं का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य इस शताब्दी के साहित्य में दीख पड़ा, वैसा पहले कभी प्रस्तुत नहीं हो सका और न आज तक सम्भव हो सका है। साहित्य-धर्म और जीवन की त्रिवेणी का पावन तीर्थराज इसी शताब्दी में सम्भव हो सका। विभिन्न युगों के अनेक स्तरों के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओं से उठती लहरों को बहाकर आने वाली विविध विचार धाराओं को आत्मसात् करती हुई, भिन्न भिन्न संप्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को पुष्ट करती हुई भारतीय साधना की इस त्रिवेणी ने साहित्य सागर को इतना गम्भीर भर दिया कि आज भी उसकी लहरों में मज्जन और अवगाहन करने से चिर शान्ति प्राप्त होती है।[१]

तुलसी, सूर, जायसी जैसे महान् कवि इस शताब्दी में ही हुए हैं। यह हिन्दी का गौरवपूर्ण युग था। इस शताब्दी को हिन्दी साहित्य के इतिहास से लोप किया जाय तो हिन्दी-साहित्य में कुछ भी नहीं रह जाता। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, किन्तु है सच। हिन्दी की साहित्य-सम्पदा की परख के लिए इस शताब्दी के साहित्य का मूल्यांकन पर्याप्त है।

छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक तमिल भक्ति-साहित्य की पावन भूमि को सिंचित कर, उत्तर की ओर प्रवहमान वैष्णव-भक्ति-सरिता अव्याहत गति से बहती हुई, विभिन्न संप्रदायों की विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी की विशाल भक्ति-भूमि को आप्लावित कर देती है। जहाँ तक कृष्ण-भक्ति-काव्य का इस भक्ति-परम्परा से सम्बन्ध है, सोलहवीं शताब्दी में ही कृष्ण-काव्य का विशेष निर्माण हुआ, जिस पर दक्षिण के विभिन्न वैष्णव-भक्ति-सम्प्रदायों की विचार-धाराओं का प्रभाव देखा जा सकता है। "सोलहवीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था, लेकिन वह सब-का-सब या तो संस्कृत में है, जैसे जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में, जैसे मैथिल कोकिल-कृत 'पदावली'। ब्रज भाषा में लिखी हुई सोलहवीं शताब्दी से पहले की प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।"[२]

सोलहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा-कृष्ण-काव्य में अधिकांश रचनाएँ विभिन्न सम्प्रदायों की विचार-धाराओं की आधारभूमि पर ही लिखी मिलती हैं। कृष्ण-भक्तों के -क्षेत्र में यद्यपि साध्य की एकता थी अर्थात् सभी ने कृष्ण को अपने आराध्य

के रूप में ग्रहण किया था, तो भी उनकी सेवा-विधि तथा कृष्ण के विभिन्न रूपों सम्बन्धी मान्यताओं मे थोड़ा-बहुत अन्तर था। इसी कारण विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनमें वल्लभ, राधावल्लभीय, गौडीय, निम्बार्क और हरिदासी सम्प्रदाय प्रमुख हैं। अधिकांश हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवि इनमे से किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। कुछ सम्प्रदाय-मुक्त कवि भी थे। सोलहवी शताब्दी के निम्नलिखित प्रमुख हिन्दी-कृष्ण-भक्त-कवियों का परिचय आगे दिया जाता है (जिनकी रचनाओं तक ही इस तुलनात्मक अध्ययन की परिधि को सीमित रखा गया)।

१. **वल्लभ-सम्प्रदाय :—**

    १—सूरदास, २—परमानन्द दास, ३—नन्ददास, ४—रसखान।

२. **राधावल्लभीय-सम्प्रदाय :—**

    १—हितहरिवंश, २—दामोदरदास (सेवक जी), ३—हरिराम व्यास।

३. **गौडीय सम्प्रदाय :—**

    १—गदाधर भट्ट, २—सूरदास मदनमोहन।

४. **निम्बार्क सम्प्रदाय :—**

    १—श्री भट्ट, २—हरिव्यास जी।

५. **हरिदासी सम्प्रदाय :—**

    १—स्वामी हरिदास, २—विट्ठल विपुलदेव।

६. **सम्प्रदाय-मुक्त-कवि :—**

    १—मीराबाई, २—रहीम, ३—नरोत्तमदास।

महाकवि सूरदास : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

महाकवि सूरदास हिन्दी साहित्य-गगन के तेजोमय सूर्य हैं। इनकी रचनाएँ इनके जीवन-काल से अब तक अनगिनत भगवद्-भक्तों और साहित्यानुरागी रसिक जनो को असीमित आनन्द प्रदान कर रही हैं। संगीतज्ञों के लिये तो सूर के पद मानो प्राण हैं। इस महान् कवि की रचनाओं को वैज्ञानिक अध्ययन कर हिन्दी साहित्य के सुयोग्य विद्वानों ने अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य के आधार पर सूरदास के जीवन पर प्रकाश डालने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। परन्तु सर्वसम्मत जीवनी अब तक लिखी नहीं जा सकी है।

सूर कृत कहे जाने वाले ग्रन्थों की सूची डा० हरवंशलाल शर्मा ने इस प्रदान दी है[1] :—

१—सूर सारावली, २—भागवत भाष्य, ३—सूर-रामायण, ४—गोवर्धन लीला (सरस लीला), ५—भँवरगीत, ६—प्राणप्यारी, ७—सूर साठी, ८—सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद, ९—एकादशी महात्म्य, १०—साहित्य लहरी, ११—दशम-

१ **सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा पृ० ३५**

[illegible]-माधा, १२—मान-लीला, १३—नाग लीला, १४—दृष्टिकूट के पद, १५—सूर-पचीसी, १६—नल-दमयन्ती, १७—सूर-सागर, १८—सूर-सागर-सार, १९—राधा-रस-केलि-कौतूहल, २०—दान लीला, २१—ब्याहलो, २२—सूरशतक, २३—सेवा-फल, २४—हरिवंश टीका (संस्कृत), २५—राम-जन्म।

इनमें से कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित हैं। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा एक मात्र 'सूर-सागर' को ही सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं।[1] डा० दीनदयालु गुप्त, मुंशीराम शर्मा तथा द्वारकादास परीख आदि विद्वानों ने 'साहित्यलहरी' और 'सूर सारावली' को भी प्रामाणिक सिद्ध किया है।[2]

यहाँ सूर की प्रमुख तीन रचनाओं पर प्रकाश डाला जाता है। यथा—

१. सूरसागर

यह सूरदास की अत्यन्त विशालकाय और महत्वपूर्ण रचना है। उपलब्ध 'सूरसागर' भागवत की तरह ही द्वादश स्कन्धों में विभाजित है। लगता है कि सूरदास ने स्कन्ध रूप में ही इसकी रचना की हो।[3] इसमें प्रथम, नवम और दशम के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध विशाल और महत्वपूर्ण हैं। शेष उतने महत्वपूर्ण नहीं। सम्पूर्ण पदों की संख्या ४,५७८ है। सूरसागर में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं, राधा और गोपियों के प्रति उनकी अंतर चेष्टाओं तथा गोपियों के विरह का विशद वर्णन है। भागवत की कथाओं और तत्वों को सूर ने इसमें अपनी भावना के अनुसार ही प्रस्तुत किया है।

२. सूर सारावली

इसको कुछ विद्वानों ने 'सूर सागर' की 'अनुक्रमणिका' अथवा 'सूची-पत्र' तक कहा है। परन्तु वास्तव में यह एक स्वतन्त्र रचना है और इसकी शैली में भी उतनी भिन्नता है। इसमें कुल १,१०७ छिपद छन्द हैं। इसमें सूर ने इस संसार की होली के

---

१ सूरदास—पृ० ६७।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृ० २९८।
सूर सौरभ (प्रथम भाग), पृ० ३।
सूर निर्णय—पृ० १६६।

३. श्रीमुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समझाई।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाई॥
व्यास कहे शुकदेव सौं द्वादश स्कन्ध बनाई।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाई॥
(प्रथम स्कन्ध), पद सं० २२५, सभा)

खेल का रूपक माना है जिसमें लीला-पुरुष की अद्भुत लीलाएँ निरन्तर चलती हैं। इस रूपक का निर्वाह अन्त तक किया गया है। अवतारो के वर्णन मे भागवत का अनुकरण है। नयी कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है। अन्तिम भाग में रुक्मिणी के प्रश्न के उत्तर के रूप में ब्रज, वृन्दावन, राधा, यशोदा तथा रास आदि लीलाओ का समावेश है।

३. साहित्य लहरी

इसको सूरदास के दृष्टिकूट पदो का संग्रह तथा रस, अलंकार और नायिका भेद की एक रीति-प्रधान रचना कहा जाता है। इसमे ११८ पद हैं। 'साहित्य लहरी' के आधार पर कुछ विद्वानों ने सूर की भक्ति-भावना को शृङ्गार के कर्दम से लांछित और दूषित भी ठहराने का प्रयत्न किया है। परन्तु डा० हरवशलाल शर्मा का कहना है—"सूर ने अपने आराध्य की अनेक प्रणय-पूर्ण लीलाओं के मधुर गान का जो स्वर उठाया है—उसमें सरसता है किन्तु कर्दम नहीं, विह्वलता है किन्तु वासना नही, सौन्दर्य रसपान की आकुल पिपासा है, किन्तु ऐन्द्रिय लोलुपता नहीं। वाष्प की तरलता है किन्तु दृढ़ता के साथ, मुसकान की मादकता है किन्तु चेतना के साथ, अनुभूतियो की चपलता है किन्तु स्थिरता के साथ। कहाँ तक कहें—लौकिकता है, परन्तु अलौकिकता के साथ।"[1]

परमानन्ददास : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

परमानन्ददास द्वारा रची हुई मानी जाने वाली रचनाएँ निम्नलिखित हैं:—

१—दान लीला, २—ध्रुव चरित्र, ३—उद्धव लीला, ४—संस्कृत रत्नमाला, ५—दीर्घ लीला, ६—परमानन्द जी के पद, ७—परमानन्द सागर।

उपर्युक्त ग्रन्थों में पहले ५ ग्रन्थ अप्रामाणिक और अनुपलब्ध हैं। छठा ग्रन्थ सातवें का ही अंग मात्र है। 'परमानन्द सागर' जो उनके भक्तो द्वारा उनके पदो के लिए दिया हुआ नाम है, उनकी प्रामाणिक रचना ठहरती है।[2] 'परमानन्दसागर' का विस्तार लगभग २,००० पदों तक जाता है। यह संख्या नाथद्वार और कांकरौली में में प्राप्त इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है। परमानन्ददास जी के पदों में 'परमानन्द' नाम की निम्नलिखित छापें मिलती हैं —

१—परमानन्द प्रभु, २—परमानन्द स्वामी, ३—परमानन्द दास, ४—दास परमानन्द, ५—परमानन्द।

इन पदों के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में डा० दीनदयालु गुप्त लिखते हैं '— "उसके पदों मे दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध कृष्ण के मथुरा-गमन और भँवर-गीत तक का

---

१. सूर और उनका साहित्य—द्वितीय संस्करण, पृ० ४६।

२ सागर (पद-संग्रह)—डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल पृ० १२।

दिखाया गया है। 'विरह मंजरी' मे नन्ददास के 'द्वादश मास विरह की कथा' का चित्रण है। इसमें ब्रजवासिनियों की विरह-व्यथा का मार्मिक वर्णन है। 'रूप मंजरी' मे रूपवती और रूपमंजरी के रूप तथा उसके लौकिक प्रेम का त्याग तथा कृष्ण के साथ प्रेम करने का वर्णन है। दोहा-चौपाई की शैली में वर्णित इस कथा का आधार भागवत से लिया गया है। 'रुक्मिणी मंगल' में कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की कथा है, जो भागवत पर आधारित है। कथा-कथन कल्पना को भी स्थान मिला है।

'रास पंचाध्यायी' मे भागवत् दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के पाँच अध्यायो में वर्णित रास-लीला का वर्णन रोला छन्द में हुआ है। अपनी कोमलकान्त-पदावली और श्रुति-मधुर भाषा-शैली के कारण यह ग्रन्थ हिन्दी का 'गीत-गोविन्द' कहा जा सकता है। 'भँवर गीत' मे उद्धव-गोपी-सम्वाद के रूप में निर्गुण पर सगुण की विजय और योग और ज्ञान-मार्ग पर प्रेम की विजय दिखायी गयी है। ऐसा लगता है कि यह सूरदास के 'भ्रमर गीत' से प्रभावित होकर लिखा गया हो। 'सिद्धान्त पचाध्यायी' मे 'रास-पचाध्यायी' मे वर्णित रास-क्रीड़ा की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। ऐसा लगता है कि रास-प्रसंग के शृङ्गारिक वर्णनो की अलौकिकता पर की गई शंकाओ का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत करना ही इसकी रचना में कवि का उद्देश्य था।

'नन्ददास की पदावली' में पदो की संख्या ७०० और ८०० के बीच में है। विषय की दृष्टि से इन पदो मे पुष्टिमार्गीय वर्षोत्सव सम्बन्धी लगभग सभी प्रसंगों का वर्णन मिलता है। बाललीला पर नन्ददास की कोई स्वतन्त्र रचना नही मिलती है। परन्तु इनके पदो में कही-कही उसका भी समावेश है। इनकी पदावली के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—गुरु-स्तुति, यमुना-स्तुति, लीला-पद, कृष्ण-जन्म, बधाई, पालना, बालरूप, गोचारण, गोदोहन, पनघट, दान-लीला, हिंडोला, राधा-कृष्ण अनुराग, केलि, कृष्ण-रूप वर्णन, राधा-रूप-वर्णन, राधा-कृष्ण का विवाह वर्णन, रास राधा मान, होली, फूल मण्डली, बसन्त, खण्डिता, मल्हार, वर्षा, दीप-मालिका, अक्षय तृतीया आदि त्यौहार। नन्ददास के काव्य मे भाषा की मधुरता तथा शब्दो की सजावट है। इसलिए और 'कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' की उक्ति प्रचलित हो गयी है।

रसखान : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

'रसखान' हिन्दी के सुप्रसिद्ध मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि हैं, जिनकी देन कृष्ण-काव्य को अति प्रशसनीय है। इनका जीवन-वृत्त तिमिराछिन्न है और इनका प्रामाणिक जीवन वृत्तान्त अभी तक लिखा नही जा सका है। 'शिवसिंह सरोज',[1] गोस्वामी

---

१. शिवसिंह सरोज में लिखा है कि रसखान कवि सैयद इब्राहीम पिहानी वाले सं० १६३० वि० में हुए। ये मुसलमान थे। श्री वृन्दावन में जाकर कृष्णचन्द्र की भक्ति में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी धर्म त्यागकर मालाकंठी धारण किये हुए वृन्दावन की रज में मिल गये। इनकी कविता निपट ललित-माधुरी से भरी हुई है।

राधारमण कृत 'भक्तमाल', बाबा बेनी माधव दास कृत 'मूल गोसाईं चरित' आदि में रसखान से सम्बन्ध में उल्लेख है। रसखान के निम्नलिखित दोहे तथा "२५२ वैष्णवन की वार्ता" से पता चलता है कि वे दिल्ली बादशाह खानदान के थे :—

"देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छाँडि रसखान॥"

—प्रेम वाटिका, दोहा ४८

कुछ लोग इन्हें सैयद इब्राहीम पिहानी वाले समझते हैं। परन्तु कवि रसखान इनसे भिन्न व्यक्ति थे।[1] रसखान के जन्म संवत् और निधन-संवत् का निर्णय करना कठिन है। पंडित चन्द्रशेखर पांडेय[2] और वेदमित्र[3] ने इनका जन्म-संवत् १६१५ लिखा है। परन्तु इसका कोई आधार नहीं दिया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल केवल उनके कविता-काल का उल्लेख करते हैं जो उनके अनुसार संवत् १६४० है।[4] कवि ने अपनी रचना 'प्रेम-वाटिका' में एक दोहे में उसके रचनाकाल का उल्लेख किया है :—

"विधु सागर रस इन्दु सुभ, बरस सरस रसखान।
प्रेमवाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरषि बखान॥"

इस दोहे के आधार पर 'प्रेम-वाटिका' का रचना-काल संवत् १६७१ निकलता है। यह प्रसिद्ध है कि रसखान दिल्ली छोड़कर गोवर्धन गये थे और वहीं गोस्वामी विट्ठलनाथ ने (संवत् १५७२-१६४२) रसखान को प्रवेश वल्लभ सम्प्रदाय में कराया था। प्रचलित किम्वदन्तियों से अनुमान किया जा सकता है कि जब वे वृन्दावन गये, तब काफी वयस्क व्यक्ति अवश्य थे। अतः इनका जन्म संवत् १५९० के आस-पास ही मानना समीचीन होगा। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का अनुमान है कि रसखान का जन्म १६ वीं शती के मध्य में हुआ होगा।[5] चूँकि 'प्रेम-वाटिका' की रचना संवत् १६७१ में हुई, इसलिए रसखान का निधन संवत् १६७८ के लगभग माना जा सकता है। डा० दीनदयालु गुप्त रसखान को अष्टछाप कवियों के समकालीन मानते हैं।[6]

रसखान की दो रचनाएँ मिलती हैं :—

१—प्रेम-वाटिका

२—सुजान-रसखान

---

१. ब्रजमाधुरी सार (दसवाँ संस्करण), पृ० १४३।
२. रसखान और उनका काव्य, पृ० २।
३. कृष्ण-काव्य की रूपरेखा, पृ० १८।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २१२।
५. हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २०७।
६. अष्टछाप और वल्लभ—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० २१।

'प्रेम-वाटिका' में ५२ दोहे हैं जिनमे प्रेम की महिमा का वर्णन है। कवि ने प्रेम को ईश्वर से भी बढ़कर प्रधान दिखाने का प्रयत्न किया है। इनका प्रेम रीति-कालीन कवियों का-सा वासनामूलक न होकर सच्चा प्रेम है जो भगवत्प्रेम में परिणत होता है। कही-कहीं आध्यात्मिकता की भी झलक मिलती है।

'सुजान-रसखान' में कवित्त और सवैये हैं। 'राग-रत्नाकर' मे रसखान के १३० पद्य संगृहीत हैं।[१] इन पदो में मुरलीधर मनमोहन और गोपी-कृष्ण प्रेम का प्रधानतः वर्णन है। अन्य लीलाओं का वर्णन नही है। इसमे नियम-बद्धता का अभाव है। कुछ छन्दों में बाल रूप का भी वर्णन मिलता है।

रसखान की भाषा सरल, सरस ब्रजभाषा है जो अपने माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है। हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य को इनकी देन अमूल्य है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं :—"सहज आत्म-समर्पण, अखण्ड विश्वास और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से रसखान की रचनाओं की तुलना बहुत थोड़े भक्त-कवियो से की जा सकती है।"[२] भारतेन्दु जी का यह कथन है—"इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए।"

हितहरिवंश : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंश जी का हिन्दी कृष्ण-काव्य के इतिहास मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

श्री हितहरिवंश जी का ब्रजभाषा तथा संस्कृत—दोनो पर समान अधिकार था। प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'राधा सुधा-निधि' के रचयिता आप ही हैं। कुछ विद्वानो ने भ्रमवश इसे प्रबोधानन्द सरस्वती की रचना बतायी है।[3] इसमे २७० सुन्दर श्लोकों मे राधारानी की प्रशस्ति गायी गई है। चूंकि श्री हितहरिवंश जी की इष्टाराध्या राधा है, इसलिए उसकी पूजा, उपासना, वन्दना, प्रशस्ति के लिए उन्होने इसकी रचना की है। इस स्तोत्र-काव्य का प्रमुख ध्येय—श्री राधा को इष्टाराध्या के रूप मे प्रस्तुत

---

१. ब्रजमाधुरी सार, पृ० २०६।
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।
3. (A) "The Stotra Kavya named "Radha Suada Nidhi" printed in 2 parts from the Bhakti Prabha Office, Hugli (1924-25) is wrongly ascribed to Prabodhanand......It is obviously a case of appropriation by the Chaitanya Sect of a work composed by 'Hit Harivansh' of Radhavallab Sect."—*Early History of Vaishnava Faith and Movement in Bengal* : Dr. S.K. De, p. 99.
   b हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११६ ११७।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दो और रचनाएँ इनके द्वारा रचित बतायी हैं :—

१—वृन्दावन शतक, २—हित सुधा सागर।

चूँकि इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल', 'साहित्य रत्नावली' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नही मिलता, इसलिए ये हित हरिवंश जी की प्रामाणिक रचनाएँ मालूम नहीं पड़ती। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट मे हस्तलिखित पुस्तको के विवरण में "प्रेमलता" नामक ग्रन्थ का रचयिता श्री हितहरिवंश को बताया है।[1]

दामोदरदास (सेवक जी) : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

श्री हितहरिवंश जी की वाणी के गूढ़ रहस्यो का उद्घाटन करने वाले भक्त रसिको में श्री सेवक जी का स्थान सर्वोपरि है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय मे इनको एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। राधावल्लभ भक्तमाल,[2] भक्तनामावली[3] जैसे साम्प्रदायिक ग्रन्थों मे इनकी स्तुति की गई है। सम्प्रदाय की अनेक वाणियो में सेवक जी का वर्णन मिलता है। भगवतमुदित ने तथा उत्तमदास ने अपने 'रसिक अनन्यमाल' और प्रियादास ने अपने 'सेवक चरित्र' में विस्तार से इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला है।

'सेवक जी की वाणी' श्री हित चौरासी का मर्मोद्घाटन करने से तथा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का विवेचन करने से हित चौरासी की पूरक वाणी मानी जाती है। अतः गुरु की रचना के साथ ही "श्री हित चौरासी सेवक वाणी" के नाम से प्रकाशित हुई है। यह १६ प्रकरणो मे विभक्त है। सरल तथा सरस ब्रजभाषा में लिखित इसमें १८७ पद और २१ छन्द हैं।[4] यद्यपि इसका वर्ण्य-विषय प्रमुख

---

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का चौदहवाँ वार्षिक विवरण, सन् १९२९-१९३१ —संपादक : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

२. सेवक सम सेवक नहीं, धर्मिन माँझ प्रधान।
—राधावल्लभ भक्तमाल, पृ० २५२।

३. सेवक की सम को करै भजन सरोवर हंस।
मन वच कै धरि एक व्रत गाये श्री हरिवंश ॥
वंश बिना हरि नाम हू लियो न जाके टेक।
पावै सोई वस्तु को जाकै है व्रत एक ॥
—भक्त नामावली

४. त्रिपदी ३२, दुपई ८, गाथा ४, तोटक १४, रट्ट ८, सवैया १७, मालती ६, मदिरा १, पद्मावती १, सोरठा २०, कुंडलिया २२, गाहा ४, चयार ४, किरीट ३ दुर्मिल २ मल्लिका १, रोला १, बन्धक १, ४ दोहा ६ छप्पय ९।

ग्रन्थ में श्री हित जी की प्रशंसा है तो भी "श्री हित रस रीति प्रकरण" और श्री हित अष्टयाम प्रकरण' आदि कुछ प्रकरणों में राधा कृष्ण की कुंज-क्रीड़ा का वर्णन है। 'सेवक वाणी' की प्रशंसा में स्वामी चतुर्भुजदास ने लिखा है :—

सेवक वाणी जे नहिं जानैं।
ताकों बात रसिक नहिं मानैं॥

मिश्रबन्धुओं ने 'सेवक वाणी' के अतिरिक्त उनके 'नाम परिचावली मंगल' नामक एक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।[1] परन्तु वह न तो प्राप्य है, और इसका उल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल' और 'साहित्य रत्नावली' में मिलता है।

हरिराम व्यास : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

भक्त शिरोमणि व्यास जी का पूरा नाम हरिराम शुक्ल था। 'व्यास' तो उनकी उपाधि थी। इनका वर्णन नाभादास के 'भक्तमाल', भगवत्मुदित के 'रसिक-अनन्यमाल' तथा उत्तमदास के 'रसिकमाल' में विस्तार से मिलता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक कवियों ने अपनी वाणियों में व्यास जी का स्मरण किया है जिससे उनके राधावल्लभीय होने का प्रमाण मिलता है। नाभा जी के 'भक्तमाल' में व्यास जी के परिचय में दिये हुए छप्पय का शीर्षक "श्री हरिवंश जी के शिष्य व्यास जी" है और उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' में शीर्षक "श्री हितपदाश्रित व्यास जू को चरित्र" है।

हरिराम व्यास जी उच्च कोटि के भक्त और दार्शनिक होने के साथ साथ कुशल कवि भी हैं। संस्कृत के तो वे पूर्ण पंडित थे ही। इनके नाम से दो संस्कृत ग्रन्थ 'नवरत्न' तथा 'स्वधर्म पद्धति' विख्यात हैं। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्टों में इनके नाम से निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख मिलता है :—

१—रागमाला[2]—इसमें ६०४ श्लोक हैं। यह संगीत-शास्त्र का ग्रन्थ है।
२—रस के पद[3]—इसमें ११०० पद हैं।
३—व्यास जी की वाणी[2]—इसमें १५७५ पद हैं।
४—पदावली[3]—इसमें ८०७ श्लोक हैं।
५—रासपंचाध्यायी[4]—इसमें ११२ पद हैं।
६—व्यास जी की साखी[5]—इसमें ५४ पद हैं।

मिश्रबन्धुओं की दी हुई सूची और नागरी प्रचारिणी सभा की उपर्युक्त सूची में विशेष अन्तर नहीं है। श्री वियोगी हरि के पद-संग्रह में व्यास जी के ८०० पद

---

१. मिश्रबन्धु विनोद (प्रथम भाग), पृ० ३३२।
२. खोज रिपोर्ट, वर्ष १९०६-८—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
३. वही, " १९०९-११ "
४. वही, " १९१२-१४ "
५. वही, " १९२०-२२ "

हैं।[1] इन पुस्तकों का निरीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल 'व्यास जी की वाणी' ही व्यास जी लिखित प्रामाणिक रचना है। मालूम पड़ता है कि इसी एक ही कृति के पदों का विभिन्न शीर्षकों में संग्रह कर अलग-अलग नाम दिये गये है। प्रकाशित 'व्यासवाणी' में पद-संख्या ७५६ है और साथ में १४६ साखियाँ और दोहे भी हैं।[2] ये दोनो भागो में विभाजित है। प्रथम भाग में 'सिद्धान्त रस' के ३०१ पद हैं तथा द्वितीय भाग मे 'रस विहार' के ४५५ पद है।

'सिद्धान्त रस' के सम्पूर्ण पद सिद्धान्तपरक नहीं हैं। प्रारम्भ में वृन्दावन, मधुपुरी, यमुना, महाप्रसाद तथा नाम रूप की स्तुति है। 'श्री साधुन की स्तुति' प्रकरण मे समस्त प्रसिद्ध भक्तो का यश-गान है। शेष पदो मे विनय, विरह, मनोपदेश, भक्ति, ज्ञान आदि विषयो की चर्चा है। इन पदों मे इन्होंने जीवन के व्यवहार-पक्ष का आकलन करते हुए सासारिक दृष्टि से वस्तुओं का विश्लेषण-विवेचन किया है। इनमे व्यवहार-पक्ष की प्रधानता है। सूक्ष्म, सैद्धान्तिक अवगाहन से दूर रहकर लौकिक धरातल पर ही व्यास जी ने अपनी बात कही है।[3] 'रस-विहार' के पदो में राधाकृष्ण की कुंज-क्रीडा, जल-क्रीडा, शयन-विहार, षोडश शृंगार, नखशिख, मान, होली, हिंडोला आदि अनेक विषय वर्णित हैं। 'रास पंचाध्यायी' अलग रूप से पद्य-बद्ध की गई है।

गदाधर भट्ट : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

चैतन्य सम्प्रदाय के कवियों में श्री गदाधर भट्ट का स्थान मूर्धन्य है। ये राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक थे और महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे। दुर्भाग्यवश इनके सम्बन्ध में बहुत कम विवरण मिलता है।

गदाधर भट्ट की रचना प्रधानतः पदो के रूप में ही मिलती है। "मोहिनी वाणी गदाधर भट्ट की" के नाम से संगृहीत वाणी मे पदो के अलावा कुछ संस्कृत के गीत और वृन्दावन की प्रशंसा मे लिखित ५४ रोला छन्दो का 'योगपीठ' भी सम्मिलित है। 'योगपीठ' गदाधर भट्ट जी की वाणी का ही एक भाग है, न कि पृथक् रचना, जैसे कि कुछ विद्वानों की भ्रान्त धारणा है। यद्यपि रास के कुछ पदो में यशोदा, नन्द, बधाई, वन्दना, यमुना, वंशी, वर्षा, वसन्त, होली, हिंडोला आदि विषय वर्णित हैं, तथापि अधिकांश पदों मे राधा-कृष्ण के शृङ्गार, रास, विलास, विवाह तथा मान आदि का विस्तार से वर्णन है। एक-दो स्थल पर श्रीकृष्ण की ब्रज-गोकुल-लीलाओं का भी वर्णन मिलता है। चन्द पदों मे नाम-माहात्म्य तथा दैन्य भाव की भी व्यंजना हुई हैं। इस संग्रह में छोटे-बड़े सभी प्रकार के पद हैं, जिनकी संख्या ८० के लगभग है।

---

१. ब्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि, पृ० ११८।
२ श्री व्यास वाणी (पुर्वार्द्ध वक्तव्य पृ० ४०
३ साहित्य भीर ० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ३८५

भट्ट जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। अतः इनकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत-गर्भित प्रतीत होती है और काव्य-शैली सहज सुन्दर बन पड़ी है। आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "संस्कृत के धुरन्धर पण्डित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद विन्यास बहुत ही सुन्दर है।"[1]

सूरदास मदनमोहन : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

सूरदास मदनमोहन अकबर के दरबार की ओर से नियुक्त सण्डीले के अमीन थे। इनका असली नाम 'सूरध्वज' था और ये मदनमोहन के अनन्य उपासक थे। अपने नाम के साथ अपने इष्टदेव के नाम की अभिन्नता स्थापित करने के कारण इनका वास्तविक नाम छिप गया और ये 'सूरदास मदनमोहन' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए।[2]

सूरदास मदनमोहन के अनेक पद कीर्तन संग्रहों में मिलते हैं। इनकी कविता सरस और मनोहारिणी तथा नाम सूरदास होने से इनके अनेक पद 'सूरसागर' में घुल-मिल गये हैं। परन्तु इनके स्वतन्त्र पदों में 'सूरदास मदनमोहन' की छाप मिलती है। 'सुहृद वाणी श्री सूरदास मदनमोहन जी' नाम से प्रकाशित संग्रह में इनके १०५ स्फुट पद हैं। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ में इनके केवल १२ पद दिये हैं और उन्हीं को प्रामाणिक माना है। पदों में [illegible], वंशी, विहार, खण्डिता, होरी, धमार, फाग, हिंडोला आदि विषय वर्णित हैं। नख-शिख, रास-विलास तथा मान का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है।

श्री भट्ट : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

श्री भट्ट निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रथम ब्रजभाषा कवि थे। इनको निम्बार्काचार्य की तीसवीं पीढ़ी में माना जाता है। श्री महन्त रामकृष्ण दास कृत "श्री गुरु-परम्परा स्तोत्रम्" के अनुसार श्री भट्ट जी के पूर्व साम्प्रदायिक गुरु-परम्परा में १२ आचार्य तथा १७ भक्त हुए थे।[3] ये सम्प्रदाय में ब्रजभाषा के प्रथम कुशल कवि ही नहीं, वरन् सम्प्रदाय की उन्नति की आधार-शिला भी माने जाते हैं। श्री वियोगी हरि लिखते हैं—"वास्तव में, केशव काश्मीरी जी ने आचार्योचित् वह कार्य किया, जिसके कारण निम्बार्क-सम्प्रदाय की नींव सदा के लिए सुदृढ़ हो गयी। आपके शिष्य श्री भट्ट जी ने तो मानों सम्प्रदाय-मन्दिर पर कलश ही रख दिया। गुरुदेव जहाँ भगवान् के ऐश्वर्य के पूर्ण प्रतिपादक थे, तो भट्ट जी माधुर्य के सच्चे समर्थक।"[4]

श्री भट्ट उच्चकोटि के भक्त थे और उन्होंने अन्तिम समय तक सम्प्रदाय की आचार्य-गद्दी को सुशोभित किया था। जिस प्रकार स्वामी हरिदास जी के अनुयायी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८२।
२. भक्तमाल—पृ० ७५२, ७५३।
३. श्री गुरुपरम्परा स्तोत्रम्—
४. ब्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि, पृ० १०८ संस्करण २०१५।

उन्हें श्री राधाकृष्ण की मुख्य सखियों मे से श्री ललिता सखी का अवतार मानते हैं, उसी प्रकार इस सम्प्रदाय के लोग इन्हे श्रीहित सखी का अवतार मानते हैं। श्री रूप रसिक कृत एक छप्पय आपके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है:—

जे बर आवे शरण ताप त्रय तिनके हरहीं।
तत्वदर्शी ते होये हस्तजा मस्तक धरहीं॥

श्री भट्ट संस्कृत तथा ब्रजभाषा—दोनों में प्रकाण्ड पंडित थे। सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि इन्होंने १०,००० पद ब्रजभाषा मे लिखे थे और ये सब शृङ्गार रस के थे। कहा जाता है कि भट्ट जी ने गद्दी स्वीकार करने के पूर्व अपने गुरु केशव काश्मीरी के सम्मुख उन पदों को उपस्थित किया, जिनको गुरु के कलियुग के लोगो के लिए व्यर्थ समझकर जमुना जी मे फेंक देने की आज्ञा दी। अब उन १०,००० पदो में केवल ६ पद उपलब्ध हैं जिनको 'जमुना जी का प्रसाद' कहा जाता है।[1]

भट्ट जी ने ब्रजभाषा में 'कृष्ण सरनापति स्तोत्र' नाम से १०० पदो की—एक रचना की थी। यही ग्रन्थ आदिवाणी' अथवा 'युगल शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के अनुसार भट्ट जी ने 'आदि वाणी' और 'युगल शतक' नाम से दो भिन्न ग्रन्थ रचे थे।[2] परन्तु वास्तव मे 'आदिवाणी' और 'युगल शतक' एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। राधा-कृष्ण की 'युगल मूर्ति' की उपासना का प्रतिपादन करने के कारण इसका नाम 'युगल शतक' पड़ा और ब्रजभाषा में रचित प्रथम रचना होने के कारण 'आदिवाणी' नाम इसको प्राप्त है। साम्प्रदायिक मतानुसार 'आदिवाणी' केवल 'युगल-शतक' का ही विशेषण है।[3] जैसे कि नाम से स्पष्ट है, इसमे १०० पद हैं। उनके अलावा अन्त में और दो दोहे दिये गये हैं। एक में रचना-काल का उल्लेख और दूसरे में फल-प्राप्ति की प्रार्थना है। विषय के अनुसार 'युगल शतक' के पद छः भागों में विभाजित हैं:—

१—सिद्धान्त सुख,
२—ब्रजलीला सुख,
३—सेवा सुख,
४—सहज सुख,
५—सुतसुख, तथा
६—उत्सव सुख।[4]

इन पदों में भट्ट जी ने राधाकृष्ण के अनुपम सौन्दर्य और ब्रज के आनन्दमय वातावरण में उनकी सरस लीलाओ का सुमधुर तथा सुसंस्कृत ब्रजभाषा में वर्णन किया है।

---

१. श्री युगल-शतक (भूमिका), पृ० ४५, ४६।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २२७।
३ (भूमिका, पृ० १ ४ ब्रजमाधुरी सार, पृ० १५६

हरिव्यास जी : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

श्री हरिव्यास देव जी आचार्य भट्ट के अन्तरंग और प्रमुख शिष्य थे। आप निम्बार्क सम्प्रदाय की पैंतीसवीं पीढ़ी के महान् आचार्य हुए।

व्यास जी के सम्बन्ध में उल्लेख श्री रूप रसिक ने 'हरिव्यास यशामृत' तथा स्वामिनीदास ने 'श्री हरिव्यास प्रकाशिनी' में किये हैं। 'श्री आचार्य चरित' नामक संस्कृत ग्रन्थ में भी इनकी जीवनी पर्याप्त विस्तार से दी गयी है। नाभादास के भक्तमाल में और प्रियादास की टीका में इनकी उत्कृष्ट वैराग्य-भावना और उत्तम भक्ति-भावना का वर्णन मिलता है।

हरिव्यास जी माधुर्य भाव के उपासक थे। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत होते हुए भी उन्होंने 'रसिक-सम्प्रदाय' नाम से एक शाखा चलायी। इस मत में भगवान् के शृङ्गारी रूप की उपासना की प्रधानता है। इस शाखा के लोग 'हरिव्यासी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

हरिव्यास जी ने संस्कृत में निम्नलिखित ग्रन्थ रचे हैं :—

१—सिद्धान्त रत्नाञ्जलि,

२—अष्टयाम,

३—तत्त्वार्थ पंचक,

४—पंचसंस्कार निरूपण,

५—प्रेम भक्ति विवर्धिनी—श्री निम्बार्क अष्टोत्तरशत नाम की टीका।

इनकी एक मात्र हिन्दी रचना 'महावाणी' है जिसको इन्होंने अपने गुरु के आदेशानुसार 'युगल शतक' के भाष्य के रूप में लिखा था। 'युगल शतक' एक साधारण ग्रन्थ है, पर 'महावाणी' काव्य-गुणों से सम्पन्न एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें राधाकृष्ण की नित्य-विहार लीलाओं का बड़ा मार्मिक और हृदयस्पर्शी वर्णन है जो एक भक्त-कवि की आत्मानुभूति की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति है। इसमें भक्त मानसिक दशा के आवेश में परात्पर प्रियतम के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसमें पूर्णतः खो सा जाता है। 'महावाणी' की भाषा कोमल व्रजभाषा है जो सुन्दर, प्रसाद गुण युक्त, रूपकादि अलंकारों से अर्थ-गाम्भीर्य लिये हुए है।

---

१. खेचर नर की शिष्य निपट अचरज यह आवै।
विदित बात संसार संतमुख कीरति गावै।
वैरागिन के वृन्द रहत संग स्याम सनेही।
ज्यों योगेश्वर मध्य मनो शोभित वैदेही।
श्रीभट्ट चरन रज परसि कै सकल सृष्टि जाकी नई।
श्रीहरिव्यास तेज हरि-भजन-बल देवी को दीक्षा दई।

छप्पय ७७

हरिव्यास जी पदों में अपना नाम 'हरिप्रिया' रखते थे। इनके पदों की रचना मुक्तक होने पर भी उसका आस्वादन प्रासंगिक रूप में किया जा सकता है। 'श्री महावाणी' में पाँच सुख हैं :—

१—सेवा, २—उत्सव, ३—सुरत, ४—सहज, और ५—सिद्धान्त।

'सेवा सुख' में नित्य विहारी श्री राधा-कृष्ण की अष्टयाम सेवा का वर्णन है। प्रारम्भिक ३६ पदो मे पूर्व आचार्यों का 'सखियो' के रूप में स्मरण किया गया है। 'उत्सव सुख' मे नित्य विहार के नैमित्तिक उत्सवों के आनन्द का वर्णन है जिससे सखियों को नित्य नवीन सुख का अनुभव होता है। 'सुरत सुख' राधा और कृष्ण के परस्पर एक-एक के सुख सागर मे निमग्न रहने का वर्णन है। 'सहज सुख' में स्वाभाविक प्रेमावस्था में विभोर होने का वर्णन है। श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति श्री राधा रानी के साथ नित्य-विहार का सुख वृन्दावन धाम में अनुभव करते है। 'सिद्धान्त सुख' का विषय अत्यन्त गम्भीर है। इसमें वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों का जैसे उपास्य तत्व, धर्म तत्व, सखी नामावली आदि का वर्णन है। इसके अनुसार अपार माधुर्य की मूर्ति, सौन्दर्य-रस-सिन्धु श्री सर्वेश्वर कृष्णचन्द्र ही एक मात्र परात्पर तत्व हैं और निर्गुण, निराकार ब्रह्म उस लीला नायक के चिदंश मात्र हैं। 'सखी नामावली' में प्रधान सखियों तथा उनके उपनामो की चर्चा है। सक्षेप मे यही 'महावाणी' का वर्ण्य-विषय है।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियो मे हरिव्यास जी का सम्मानपूर्ण स्थान है। श्री बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है :—

"निम्बार्क मतावलम्बी कवियो में श्री हरिव्यास देव जी का वही स्थान है जो वल्लभ मतानुयायी कवियो में सूरदास जी को प्राप्त है। दोनों ही हिन्दी कविता-कामिनी के कलेवर को शोभित करने वाले दो रत्न हैं तथा अपने भक्ति-सम्प्रदाय के जाज्वल्यमान हीरक हैं।"[1]

परशुराम देव : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

परशुराम देव, हरिव्यास जी के द्वादश शिष्यो में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। बड़े भक्त होने के साथ ही, एक श्रेष्ठ कवि भी हैं। ये सगुणोपासक तो थे ही। परन्तु निर्गुण ब्रह्म पर भी कबीर की भाँति काव्य-रचना इन्होने की है। इनके १३ ग्रन्थो का पता चला है :—

१—तिथि लीला, २—बार लीला, ३—बावनी लीला, ४—विप्रमतीसी, ५—नाथ लीला, ६—पदावली, ७—रागरथनाम लीला-निधि, ८—साँच निषेध लीला, ९—हरि लीला, १०—लीला समझनी, ११—नक्षत्र लीला, १२—निज रूप लीला, १३—निर्वाण।

१ भागवत　　　—श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ३२१

प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास का एक महत्वपूर्ण स्थान है। स्वामी जी के जन्म-स्थान, जन्म संवत्, माता-पिता, गुरु आदि के विषय मे विद्वान् एक मत नहीं हैं।

स्वामी हरिदास जी का कविताकाल संवत् १६०० और १६४४ के बीच पडता है। इनकी सम्पूर्ण काव्य-रचना पदों के रूप में ही मिलती है। स्वामी जी सिद्धहस्त गायक थे ही, अत इनके पद विविध राग-रागिनियो मे गाने योग्य है। इनकी रचनाओं के विषय मे विद्वानो में मतैक्य नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इनके अनेक संग्रह प्राप्त हुए है जिनमे **'हरिदास जी की बानी'** तथा **'हरिदास जी के पद'** मुख्य हैं।[1] प० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी तीन रचनाओ का उल्लेख किया है :—[2]

१—हरिदास जी को ग्रन्थ,
२—स्वामी हरिदास जी के पद, तथा
३—हरिदास जी की बानी।

मिश्रबन्धुओं ने और एक ग्रन्थ 'भरथरी वैराग्य' को हरिदास जी कृत माना है।[3] परन्तु इनमे से उपलब्ध होने वाली केवल दो ही रचनाएँ हैं। पहली रचना 'सिद्धान्त के पद' है और दूसरी 'केलिमाल'। ये दोनो 'निम्बार्क माधुरी' मे प्रकाशित हैं। 'सिद्धान्त के पदो' की संख्या १८ है और 'केलिमाल' के पदो की संख्या १०८ है। शायद इन्ही दो रचनाओ का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने 'साधारण-सिद्धान्त और रास के पद' से किया है।[4] 'केलिमाल' मे युगल रूप, राधाकृष्ण के नित्य-विहार, नखशिख, मान, दान, होली, रास आदि विषय वर्णित है।

विट्ठल विपुलदेव : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

हरिदासी सम्प्रदाय में श्री विट्ठल विपुलदेव का नाम बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु इनके जीवन-वृत्त पर बहुत कम विवरण उपलब्ध है।

श्री विट्ठल विपुल की रचना स्फुट पद हैं जो कीर्तन सग्रहो और 'राग कल्पद्रुम' मे प्राप्त होते हैं। इनके ४० पदो में २६ पद 'निम्बार्क माधुरी' मे दिये गये है।[5] इन पदों के द्वारा उन्होने स्व सम्प्रदायांतर्गत परम्परागत रस-सिद्धान्त एवं उपास्य तत्व की परिपुष्टि की है। इन पदों मे स्वामी हरिदास जी के 'केलिमाल' का सार

---

१ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** (चतुर्थ सस्करण) —डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५६०।

२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८६।

३. **मिश्रबन्धु विनोद**—पृ० ३०२।

४. **अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय** (भाग १)—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ६६।

५. **श्री विट्ठल विपुल प्रताप जग प्रगट सदा जब तलक रवि।**
चालिस पद रसमय बिरचि मान्यौ बिबिरस छलक छबि।
निम्बार्क माधुरी, पृ० २२४

निरूपित है। राधा-कृष्ण के नित्य-विहार, झूला, मान, दान, नोंक-झोंक आदि विषय वर्णित हैं।

मीराबाई : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

कृष्ण-भक्तिन मीराबाई हिन्दी की सबसे अधिक प्रसिद्ध कवयित्री हैं। इनके ऊपर नयी-पुरानी अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमें मीरा का जीवन-वृत्तान्त मिलता है। नाभादास कृत 'भक्तमाल, ८४ वैष्णवन की वार्ता, २५२ वैष्णवन की वार्ता', राघवदास कृत 'भक्तमाल' आदि में भी मीरा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। मीरा के जन्म-संवत्, निधन-संवत् आदि के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं।

मीराबाई के नाम से निम्नलिखित रचनाएँ बतायी जाती हैं :—

१—नरसी जी रो माहेरो,
२—गीत-गोविन्द की टीका,
३—राग गोविन्द,
४—सोरठ के पद,
५—मीराबाई का मलार, और
६—गर्वा गीत।

परन्तु 'राग गोविन्द' तथा 'राग सोरठा' के केवल नाम मात्र मिलते हैं। 'नरसी जी रो माहेरो' मीराबाई की रचना नहीं मालूम पड़ती है। इनके पदों में निर्गुण-ब्रह्मवाद, हठयोग, सूफी प्रेम-तत्त्व इत्यादि समकालीन विचार-धाराओं का प्रभाव दीख पड़ता है। इनकी व्रजभाषा में राजस्थानी का प्रभाव है। कृष्ण से सम्बन्धित पदों में कृष्ण के प्रति मीरा के प्रेम, विरह, मिलन, आत्म-निवेदन आदि के भाव अभिव्यक्त हैं। कुछ पद व्यक्तिगत सम्बन्धी भी हैं।

रहीम : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

अब्दुर्रहीम खानखाना[1] अकबर के दरबार के नवरत्न कवियों में से हैं। अबुल फज़ल, अब्दुल कादिर, बदायूनी, अब्दुल बाकी आदि मुसलमान इतिहासकारों के ग्रन्थों में रहीम के जीवन-वृत्त सम्बन्धी विवरण विस्तार से मिलते हैं। वे इतिहास-प्रसिद्ध बैरमखाँ के पुत्र थे।

---

१. हिन्दी के कुछ इतिहासकारों ने हिन्दी भाषा के दो रहीम कवियों का परिचय देने का प्रयास किया है। शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना के अलावा और एक रहीम का उल्लेख किया है जिसके समर्थन में भिखारीदास का एक छन्द दिया है। इसके आधार पर मिश्रबन्धुओं ने भी हिन्दी के दो रहीम कवि माने हैं परन्तु खानखाना एक ही व्यक्ति थे और वे अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवि रहीम ही हैं। डा० सरयूप्रसाद ने यह सिद्ध किया है। —दरबार के हिन्दी कवि, पृ० १९५।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रहीम की निम्नलिखित रचनाएँ बतायी है :—[1]

१—रहीम दोहावली या सतसई, २—बरवै नायिका भेद, ३—शृङ्गार सोरठ, ४—मदनाष्टक, ५—रास पंचाध्यायी, ६—नगर शोभा, ७—फुटकल बरवै, ८—फुटकल कवित्त सवैये, ९—रहीम काव्य, १०—खेटकौतुम् ।

इनके ग्रन्थों में डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'रहीम दोहावली', 'बरवै नायिका', 'मदनाष्टक', 'रास पंचाध्यायी' और 'शृङ्गार सोरठ' प्रसिद्ध हैं ।[2] दोहावली में प्रारम्भ में गंगा-स्तुति है । भक्ति, नीति, उपदेश आदि विषयो की चर्चा है । रहीम की रचनाओं मे 'मदनाष्नक' और 'रास पंचाध्यायी' दोनों ही कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। 'मदनाष्टक' में केवल आठ चौपदे हैं और 'रास पंचाध्यायी' मे केवल दो पद ही उपलब्ध हैं ।[3]

'मदनाष्टक' रचना मे कृष्ण की मुरली के व्यापक प्रभाव, कृष्ण-सौन्दर्य से उद्दीप्त गोपी-प्रेम-भावना, गोपियों की विह्वलता और कृष्ण से मिलने की तीव्र आकाक्षा आदि का वर्णन है । "यह सम्पूर्ण वर्णन विप्रलंभ शृङ्गार के अन्तर्गत स्मृति-संचारी के ही रूप मे हुआ है । गोपियों में कृष्ण के वशी-नाद, उसकी रूप माधुरी तथा उनकी मधुर चाल-ढाल तथा बोली ने उनके विरह को और भी उद्दीप्त कर दिया है और वे कृष्ण से मिलने के लिए लालायित हो उठती है ।" रहीम के पदो में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मधुर ब्रजभाषा में हुआ है । पदो की शब्द-योजना श्रुतमधुर और संगीतात्मक है । भाव और भाषा—दोनो के दृष्टिकोण से ये पद सूरदास के पदो से मिलते हैं । कवित्त और सवैयो मे कृष्ण का बाल-रूप-वर्णन, उनके गुणो का कथन और साधारण नीति तथा शिक्षा के विषय आये हैं ।"[4]

नरोत्तमदास : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

नरोत्तमदास केवल एक छोटी रचना के बल पर हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में स्थान पाने वाले अद्वितीय कृष्ण-भक्त थे ।

नरोत्तमदास के दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—'सुदामा चरित्र' और 'ध्रुव चरित्र' । केवल 'सुदामा चरित्र' प्राप्य है । 'ध्रुव चरित्र' अभी तक उपलब्ध नही हुआ । 'सुदामा-चरित्र' बहुत छोटी रचना होने पर भी इतनी सरस और श्रेष्ठ है कि उसी ने कवि को अमर बना दिया । यह 'चरित्र-काव्य' है जो अपने वर्ग में 'हिन्दी कृष्ण-काव्य-क्षेत्र' मे सर्वश्रेष्ठ है । इसकी कथा श्रीमदभागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है । यह

---

१. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** (सं० २०१४), पृ० २०२ ।
२. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** (चतुर्थ संस्करण) —डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६०० ।
३. **रहीम रत्नावली**—मायाशंकर याज्ञिक द्वारा सम्पादित, पृ० ३२ ।
४ **अकबरी दरबार के हिन्दी कवि**—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल पृ० १७३

एक खण्ड-काव्य है, जिसमें दोहा, सवैया, और कवित्त छन्दों में सम्बद्ध रूप से कृष्ण-सुदामा मिलन की कथा का वर्णन है। छन्दों की संख्या १२१ है। इसकी भाषा प्रवाहमयी एवं सरल है और शैली आकर्षक है, जिसने अन्य कवियों को इसी के अनुकरण पर 'सुदामा-चरित' लिखने की प्रेरणा दी।

कृष्ण-काव्य-जगत् में इसकी विशेषता यह है कि यह राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन न कर, द्वारकाधीश भगवान् कृष्ण के हृदय की कोमलता, दयाशीलता और सुदामा के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता का परिचय देता है। इसमें दीन ब्राह्मण के बड़े सजीव चित्र अंकित हैं।

तृतीय अध्याय

“मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले ‘प्रबन्धम्’ के तत्व”

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्'[1] के तत्व

तमिळ-प्रदेश में छठी शताब्दी से लेकर नवी शताब्दी तक भक्ति का जो तीव्र आन्दोलन चला, उसमें आळवारों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रथम अध्याय में हम यह दिखा चुके हैं किन-किन परिस्थितियो से तमिळ-प्रदेश मे भक्ति-आन्दोलन का आविर्भाव हुआ और उसमे आळवारो की देन क्या थी? उक्त भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन के रूप में व्यापक और विशाल बनाने का पूरा-पूरा श्रेय आळवारों को है। आळवार भक्तो ने भक्ति-मार्ग को ही ईश्वर-प्राप्ति का सर्वसुलभ और राज-मार्ग घोषित किया। आळवारों के भक्ति-प्रधान गीतों मे एक अद्भुत शक्ति थी जिसने तमिळ-प्रदेश की समस्त जनता को भक्ति-मार्ग पर आकृष्ट किया। कितने ही भक्त आळवारों के सरल और मधुर गीतो को गा-गाकर आत्म-विभोर हो जाते थे। वह युग भक्ति के भावावेश का युग था और भक्ति ही उस युग की सबसे ऊँची आवाज थी। 'बिजली की चमक' के समान आळवारो का भक्ति-सन्देश समस्त दक्षिण भारत के कोने-कोने मे पहुँच गया। आळवारो द्वारा प्रसारित भक्ति की धारा नवी शताब्दी के बाद भी अव्याहत गति से प्रवहमान रही।

पहले कहा जा चुका है कि छठी शताब्दी से लेकर नवी शताब्दी तक का काल तमिळ-साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल के नाम से अभिहित है। तमिळ को छोड़कर भारत की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं का विकास नवीं शताब्दी के अनन्तर ही हुआ है। दक्षिण की अन्य भाषाओं मे भी भक्ति-साहित्य का आविर्भाव अधिकाशतः नवी शताब्दी के पश्चात् ही हुआ है। नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी तक के साहित्य को 'मध्ययुगीन साहित्य' की संज्ञा दी जाती है। तिमळेतर समस्त भारतीय आधुनिक भाषाओं के भक्ति-साहित्य का काल इस मध्य युग मे ही पड़ता है।

१ नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' के पदों का समह

प्रधान ग्रन्थ है। उसके प्रणयन के मूल में भी भक्ति का प्रचार ही था। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित वाले प्रबन्धम् के भक्ति-तत्वों[1] को दो श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है :—

१—सामान्य तत्व, २—विशिष्ट तत्व

सामान्य तत्वो के अन्तर्गत हम उन तत्वो को लेंगे जिन्होने सामान्य रूप से मध्ययुगीन भारतीय भक्ति-साहित्य को प्रभावित किया है। विशिष्ट तत्वों के अन्तर्गत हम मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्वों को विशेष रूप से लेंगे। सामान्य भक्ति-तत्व तो सगुण भक्ति साहित्य के अन्तर्गत ही नहीं, बल्कि निर्गुण भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत भी न्यूनाधिक रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। ये तत्व भारतीय भक्ति-साहित्य में केवल 'प्रबन्धम्' से ही गये हो, यह बात नहीं है। 'प्रबन्धम्' भी स्वयं वेद तथा गीता से प्रभावित है। परन्तु 'प्रबन्धम्' का महत्व इस बात में है कि उसके भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट सन्दर्भ मे इन तत्वों पर सर्वाधिक जोर दिया और उन्हे भक्ति के आवश्यक तत्व बताये। इन सामान्य तत्वों मे परवर्ती भक्ति-साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले निम्नलिखित कुछ तत्वो को प्रमुख रूप से लेंगे :—

१—भक्ति का सर्वोपरि महत्व
२—नाम महिमा
३—स्तुति
४—शरणागति अथवा प्रपत्ति
५—गुरु महिमा
६—सत्संग
७—वैराग्य

१. भक्ति का सर्वोपरि महत्व

भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल से संसार-दुःख से छूटकर मुक्ति-लाभ करने के तीन प्रधान मार्ग प्रचलित रहे हैं :—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग, और भक्ति-मार्ग। देश और काल की परिरिस्थितियो के अनुसार कभी किसी मार्ग का प्राधान्य रहा है, और कभी किसी का। आळवार भक्तो के समय तक ज्ञान-मार्ग और योग-मार्ग (कर्म-मार्ग) जन-साधारण के लिए असाध्य जान पड़ने लगे थे। आळवार भक्तो ने भक्ति-मार्ग को इतना आशावादी और सुगम बना दिया कि लोगो ने इसे बड़ी सरलता से अपना लिया,

१. केवल भक्ति-तत्वों के वर्गीकरण के विषय में डा० विश्वनाथ शुक्ल के "मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले श्रीमद्भागवत के सामान्य तत्व" नामक लेख से सहायता ली गयी है।
अभिनव भारती अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी-संस्कृत विभाग की शोध पत्रिका, पृ० ६८-८५

भक्ति साधन ही नहीं, बल्कि साध्य भी है।[1] स्पष्ट है कि आळवारों ने भक्ति को सर्वोपरि महत्व दिया है। मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी भक्ति को ही सर्वाधिक प्राधान्य प्रदान किया है और ऊपर दिये हुए आळवारों के विचारों को दुहराया है।

२. नाम महिमा

भक्ति के साधन मे भगवान् के अनेक नामो मे से किसी भी नाम के स्मरण, कीर्तन तथा श्रवण का आळवार भक्तो ने भारी महत्व बताया है। आळवार भक्तो का दृढ विश्वास है कि भगवान् के सहस्र नामो में से किसी भी एक का सदा मन मे स्मरण तथा ध्यान करने से, जिह्वा से उसका कीर्तन-गायन करने से और उसका कानों से श्रवण करने से मन, वाणी और कर्म द्वारा होने वाले समस्त पापों का क्षय होता है, मन में पवित्र भाव भर जाते हैं और श्रद्धा की वृद्धि हो जाती है।[2] श्रद्धा से भगवान् की सेवा में संलग्नता आती है और उससे भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति से सत्व गुण की वृद्धि होती है और तत्व का साक्षात्कार होता है, तदनन्तर मोक्ष मिलता है। तिरुमंगै आळवार अपने एक गीत में कहते हैं—"मैंने उस 'नारायण' नाम को पहचान लिया है जो पवित्रता (अच्छा कुल) प्रदान करने वाला है। वह धन देने वाला है, भक्तों के कष्टो और दु:खो को दूर करने वाला है, भगवान् का अनुग्रह प्रदान करने वाला है, शक्ति प्रदान करने वाला है, जन्म देने वाली माता से भी अधिक स्नेह (ममता) दिखाने वाला है, वह कल्याण प्रदान करने वाला है।"[2] पेरियाळवार का सुझाव है कि बच्चों को भगवान् के सहस्र नामो से एक को रखना चाहिए। नाम की महिमा अनन्त है। भगवान् का नाम बच्चों को रखने से उन्हे बुलाते समय भगवान् का स्मरण भी हो सकता है। इस तरह भगवान् के नामो का उच्चारण सर्वत्र हो सकेगा।[3]

---

१. तिरुवायमोळी— ३ : ३ : १-८

२. "कुलमतरुम चेल्वम् तंतिदुम
अडियार पडु डयरायिनवेल्लाम्
निलन्तरंचेय्युम नीळविसुम्बु अरुलुम
अरुळोडु पेरुनिलमळिक्कुम
वलरुतरम मडुम तन्तिदुम
पेटा तायिनुमे आयिन चेययुम
नलन्तरुम चोल्लै नान कण्डु कोंटेन
नारायणावेन्नुम नामम

—पेरिय तिरुमोळी, १ : १ : ६

३- पेरियाळवार ने बच्चों को भगवान् के विभिन्न नाम रखने का उपदेश देते हुए दस पद लिखे हैं तिरुमोली ४ ६ १ १०

"भगवान् के नाम का उच्चारण करने से नरक भी स्वर्ग में परिणत होगा।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि आळवारों ने भगवन्नाम-माहात्म्य पर विशेष जोर दिया है। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में भी भगवन्नाम की अनन्त महिमा की प्रतिष्ठा हुई है। निर्गुण मार्ग के संत तथा सगुण मार्ग के भक्त---दोनों ने मुक्त कंठ से भगवन्नाम की अमोघ शक्ति का वर्णन किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है---"मध्य युग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्य युग की समस्त धर्म-साधना को 'नाम की साधना' कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम-जप के बारे में किसी को सन्देह नहीं। इस अपार भवसागर में एक मात्र नाम ही नौका रूप है।"[2]

३. स्तुति

भगवत्-स्तवन भक्ति का ही एक प्रधान अङ्ग माना गया है। आर्त होकर भगवान् की असीम शक्ति, भगवान् की भक्त-वत्सलता तथा भगवान् के श्रेष्ठ गुणों का बारम्बार स्तवन करने से भक्त को परम शान्ति का अनुभव होता है। स्तुति की परम्परा तो वैदिक ऋचाओं से मिलती है। संस्कृत में तो उच्च कोटि का स्तोत्र-साहित्य उपलब्ध होता है ही। कीर्तन-भजन भी इस श्रेणी में आते हैं। भगवान् के नाम, गुण, माहात्म्य, लीला, धाम, तथा भगवद् भक्ति के यश का प्रेम और श्रद्धा के साथ कथन, स्तुति, उच्च स्वर से पाठ तथा गान 'कीर्तन' कहलाता है। भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने इस साधन को भी परमानन्द प्राप्ति का एक उपाय कहा है और इसकी बहुत प्रशंसा की है।[3]

आळवारों के समस्त पद एक प्रकार से स्तुति-गीत ही हैं। अनेक दशकों में पूरे का पूरा भगवत्-स्तवन ही है। भगवान् के श्रेष्ठ गुणों और उनकी महिमा का कथन कर भक्त अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है। भक्त भगवान् की महिमा गाना ही अपना परम धर्म समझता है। वास्तव में बात यह है कि आळवार भक्तों ने अपने अधिकांश गीत विभिन्न मन्दिरों में विभूषित भगवान् के अर्चावतार-रूपों की स्तुति में गाये हैं। अतः उनके अधिकांश गीत स्तुति-परक हैं। भक्त भगवान् को कितने ही नामों से सम्बोधित कर, उसकी कितनी ही लीलाओं की प्रशंसा कर स्वयं परम सुख का अनुभव करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आळवारों के स्तुति-गीतों ने भक्तों

---

१. "नमनुम मुर्कलनुम पेचा नरकिल निन्द्राकंल केट्का
नरकमे स्वर्गमाकुम नामंकटैय नम्बी"
—तिरुमालै, १२

२. मध्यकालीन धर्म-साधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।

३ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ५६२।

भगवान् की स्तुति करो।"[1] पोयगै आळवार ने कहा है कि मेरा मुँह भगवान् के अतिरिक्त किसी दूसरे की स्तुति नहीं करेगा।[2]

आळवारों के स्तुति-गीतों की एक बडी विशेषता उनमे संगीत का समावेश है। संगीत का प्रभाव विश्वव्यापी है। मनुष्य ही नही, पशु संसार भी संगीत के मुग्धकारी प्रभाव से वंचित नही है। आळवारों के स्तुतिपरक भक्ति-गीतों को गाते-गाते भक्त बहुधा आनन्दातिरेक से नाच उठते थे। भक्ति के साथ संगीत तथा संगीत के साथ भक्ति—दोनो का एक-दूसरे के सहारे बहुत प्रचार हुआ है। डा० दीनदयालु गुप्त जी के शब्दो मे "ईसा की सातवी तथा आठवीं शताब्दियों में, जब दक्षिण भारत मे शिव और विष्णु की भक्ति के मार्गों का पुनरुत्थान और प्रचार हुआ, उस समय यह कार्य धार्मिक गीतों (आळवार भक्तों के तमिल-गीत-प्रबन्धम्) द्वारा अधिक मात्रा मे हुआ। भक्ति के प्रचार के साथ इन शताब्दियो मे संगीत-प्रियता खूब बढी। तमिळ-भाषा मे उस समय के संगीत के बहुत से नमूने अब भी सुरक्षित है। उत्तरी भारत मे भी दक्षिण का धार्मिक प्रभाव आया और भक्ति आन्दोलन के साथ सगीत का भी मान बढ़ा।"[3] तात्पर्य यह है कि आळवारों के स्तुति गीतों ने मध्ययुगीन भक्त-कवियो को बहुत ही प्रभावित किया है। मध्य युग मे कीर्तन-भजन की जो परम्परा चल पडी, उसका मूल स्रोत आळवारो का 'प्रबन्धम्' है। मध्य युग के हिन्दी-कृष्ण-भक्त-कवियो ने भी गीतात्मक शैली को अपनाया और भगवत्-स्तवन मे गीत प्रस्तुत किये।

४. शरणागति या प्रपत्ति

आळवारो के अनेक पदो मे "शरणागति तत्व" पर विशेष जोर दिया गया है। आत्म दोषो पर पश्चाताप प्रकट करना, अपना, आश्रयहीनता का अनुभव करना, भगवान् को ही एक मात्र सहारा समझना और उद्धार की प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्ति या शरणागति है। गीता मे श्रीकृष्ण का कथन है—"है, भारत! सब प्रकार उस परमेश्वर की शरण जा। तू उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।"[4] शरणागति मे भगवान् का अनुग्रह विशेष अपेक्षित है। यद्यपि भक्ति और प्रपत्ति—दोनों में भगवान् के अनुग्रह और प्रेम का प्रकर्ष होता है

---

१. तिरुवायमोळी, ३·९:, १-१०।
२ "वाय अवनैयल्लदु वाळत्तादु"—मोदूराम् तिरुवन्तादि, ११।
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५६४।
४. तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥
सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥
—श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८

क्या करूँ ? हे भगवान् ! मैं चोर हूँ, कपटाचरण करने वाला हूँ, मनमाने मार्ग पर चलने वाला हूं, दिशाहीन हूँ, लक्ष्यहीन हूँ।...अब आपकी दया की कामना करता हूँ।
—(पेरियतिरुमोळी, १ : १ : ३-५)

"नारी सौन्दर्य पर मोहित होकर उसे ही शाश्वत सुख समझ कर मैं मूर्ख बन बैठा।...मैं अब लज्जित हूँ।...आपकी शरण मे आया हूँ।"
—(पेरिय तिरुमोळी, १ : ६ : १)

"हे भगवान् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ, मुझे स्वीकार करो।[1]"

"हे, करुणानिधान ! अन्त में मैं आपके पास आया हूँ। इस अकिंचन की रक्षा करो।"[2]

पेरियाळवार ने अनेक पदों में आर्त-पुकार की है—"हे भगवान् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मेरी रक्षा करो।"[3]

तोंडरडीपोडी आळवार के शब्द तो हृदय को द्रवित करने वाले है। तड़पते हुए भक्त हृदय की करुण-पुकार इन पदों में सुनाई पडती है :—

"मेरा अपना कोई घर नहीं, अपनी जमीन नही और पूछने वाला कोई बन्धु भी नही। फिर भी हे करुणामूर्ति ! इस पार्थिव जीवन मे आपके चरणों की सुदृढ शरण मैंने नही ग्रहण की। हे घनश्याम, भगवान् ! अब तो मैं भारी क्रन्दन करता हूँ। कोई है मुझे अवलम्ब देने वाला ?"[4]

"मेरे मन मे थोड़ी सी भी पवित्रता नहीं, मुँह से एक भी हित वचन नही निकलता। क्रोध के कारण मै द्वेष-बुद्धि का दमन नही कर पाता हूँ। किन्तु दूसरे पक्षवादियों पर बुरी दृष्टि डालकर कटुवचन बोल देता हूँ। हे तुलसीमाला-धारी ! मेरी गति अब क्या हो सकती है ? कहिए, मुझ पर शासन करने वाले महाप्रभु !"[5]

१. "अण्णा ! वन्तडैन्तेन अडियेनै आट्कोंटरुळाये"
—पेरिय तिरुमोळी, १ : ९ : ९

२. अट्रेन वन्तडैन्तेन अडियेनै आट्कोंटरुळाये",
—वही, १ : ९ : ८

३. "अण्णले ! नी एन्नै काक्कवेंडुम" —पेरियाळवार तिरुमोळी ४ : १० : ६

४. "ऊरिल्लेन का णियिल्लै उरवुमट्रोरुवरिल्लै,
पारिल निनपादमूलम् पाट्रिलेन परममूर्ति !
कारोळीवण्णने ! कण्णने ! कदरुकिट्रेन,
आरुळर ? कळै कैण अम्मा। अरगमानगरुळ्ळाने।" —तिरुमाळै, २९।

५. मनत्तिल ओर तूइमैयिल्लै वायिलोर इन्सोल्लिल्लै,
चिनत्तिनाल चेट्रम नोक्की तीविळी वनमाळा।
पुनत्तुळायमालैयाने ! पोन्नीसूळतिरुवरंगा !
एमक्कु इनि गति मेन्सोल्लाय ? एन्नयाळुट कोवे —वही ३०

चाहे हठयोगी साधक हो, चाहे सूफी प्रेमी—सभी ने मुक्तकंठ से आध्यात्मिक साधना मे गुरु की आवश्यकता मानी है। गुरु आध्यात्मिक जीवन का पथ-प्रदर्शक है। अज्ञान-तिमिर मे गुरु ज्ञान-दीपक है। गुरु की सहायता के बिना मन का मैल दूर नहीं हो सकता और परमात्मा की प्राप्ति असंभव है। गुरु की कृपा आत्मा को परमात्मा से मिलने के रास्ते पर ले जाने वाली है। गुरु ईश्वर के सदृश्य आदरणीय है। कुछ भक्तो ने तो गुरु को ईश्वर से भी अधिक पूज्य बताया है। आळवारो के अनेक पदो मे गुरु की महिमा गायी गयी है। मधुर कवि आळवार की एक मात्र रचना "कण्णिणुण-चिरुतांबु" का वर्ण्य-विषय ही गुरु-भक्ति है। सद्गुरु को खोज मे भटकने वाले मधुर कवि नम्माळवार को गुरु-रूप मे पाकर अपने जीवन को धन्य समझते हैं वे गुरु को ईश्वर से भी श्रेष्ठ मानते हैं और गुरु की सेवा को अपना परम धर्म मानते हैं। उनका मत है कि गुरु भगवद्-स्वरूप है। उसे अपना शरीरादि सर्वस्व निवेदन करते हुए, सर्वदा अनुगमन करते हुए, सर्वदा अनुगमन करते हुए अत्यन्त तुच्छ सेवक के समान दिन-रात गुरु की सेवा में लीन रहना चाहिए। गुरु-सेवा से सर्वेश्वर सन्तुष्ट हो जाते हैं। मधुर कवि ने अपने कथन से ही नही, बल्कि अपने कर्मों द्वारा भी गुरु-भक्ति की महिमा साबित की है। मधुर कवि गुरु की स्तुति में कहते हैं—

"गुरु (नाम्माळवार) का नाम लेते ही मेरी जिह्वा अमृत आस्वादन का सा आनन्द प्राप्त करती है।"[1]

"वेद के गूढ से गूढ तत्वों को गुरु ने मुझे सरलता से समझाया। श्रेष्ठ गुरु (नम्माळवार) की दासता स्वीकार कर मै अपने को धन्य समझता हूँ।"[2] "मुझ मे वास करने वाले दोषों को गुरु (नम्माळवार) ने दूर किया। मैं श्रेष्ठ गुरु की महिमा दिशा-दिशा मे फैला दूँगा। मै गुरु की कृपा की याचना करता हूँ।"

—(कण्णिणुण चिरुतांबु—७)

"पेरियाळवार ने यहा तक कह दिया है कि "निर्मल तथा सद्गुणो से बिभूषित गुरु की कृपा पाकर उनके निर्देशानुसार भगवान् की स्तुति नही करने वाला अपनी माँ के गर्भ को कलंक पहुँचाता है।"[3]

---

१. "........ ....

नण्णित्तेन कुरुकूर नम्बीयेन्ट्काल
अण्णिक्कुम अमुदूरुम एन्नाउक्कं।"

—कण्णिनुण चिरुताबू, १

२. "मिक्क वेदियर वेदत्तु नुट्पोरुल
निर्कप्पाडी एन्नेंचुळ निरुत्तिनान
तक्कपोर शटकोपन एन्नम्बिक्कु आळ
पुक्कावस अडिमै पयनेन्द्र —वही ९

३ तिरुमोळी ४४२

करते हैं तथा आपस मे बोध-विनिमय करते है, वे नित्य सुखी रहते है और निरन्तर मुझ मे रमते हैं।"[1]

आळवार भक्तों ने सत्संग को भगवत्-प्राप्ति का उपकरण मानकर सर्वदा भक्तो के समाज मे विराजने का आदेश दिया है। कुलशेखराळवार ने अपने राज-भोग को भी त्यागकर भक्तो की मंडली में जा मिलने की अपनी तीव्र उत्कंठा प्रकट की है।

"अमृत सम भगवान् की स्तुति कर, भगवान् को अपने अन्तःकरण में धारण कर, भगवान् का गुण-गान कर नाचते-नाचते थक जाने वाले भक्तो के मंडल में जा मिलने का सौभाग्य मुझे कब प्राप्त हो ?"[2]

"भगवान् की दिव्य लीलाओं का गानकर आनन्दाश्रु बहाकर, अश्रुधारा से भीगने वाले भगवान् के मन्दिर के प्रांगण मे नाचने वाले श्रेष्ठ भक्तों की चरण धूलि को अपने चेहरों पर लगाऊँगा।"[3]

"निरन्तर आनन्दाश्रु बहाकर, आर्त-पुकार कर पुलकित होकर, भगवान् की स्तुति कर नाच उठने वाले भक्तो को कोई पागल कह बैठे तो कहने वाला ही पूर्णरूपेण पागल है।"[4]

भक्तो के बीच में ऊँच-नीच-भेद के लिए कोई स्थान नही है। वे तो भगवान् के भक्त होने के कारण समान है। तोंडरडीपोडी आळवार ने कहा है—"दोष रहित जीवन बिताकर भगवान् के ध्यान मे सर्वदा लीन रहने वाले (भले ही नीच कुल के क्यों न हों) अगर शुद्ध भगवद् भक्त है तो उनकी पूजा करो, उनकी सेवा करो। उनकी संगति करो, क्योंकि वे भगवान् के समान स्तुत्य है।"[5]

---

१. "मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।"
—गीता : दशम् अध्याय, श्लोक ६

२. "तेट्टरुन्दिरल तेनिनै तेन्नरङ्गनै तिरुमादुवाळ।
वाट्टमिल वनमाले मार्वनै वालत्ति माल कोल चिन्तैयराय।
आट्टमे वियलन्बलॅत्त् अयर्वेइतुम मेय्यडियारकळ तम
ईट्टम कण्डिटक्कूडुमेल अतुकाणुम कण पयनावते।"
—पेरुमाळ तिरुमोळी, २·१

३. "आरु पोल वरुम कण्णनीर कोंडु अरगन कोयिल तिरुमुट्टम्
चेरु चेय तोंडर चेवडी चेलुमेरु पुन चेन्निकाणि वते।"
—वही, २:३

४. पेरुमाळ तिरुमोळी, २:६।

५. "....................................
इळि कुलसवर्कळ नुम
तोलुम्मिन कोडुम्मिन कोळम्मिन ऐम् , ४२

पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर अपने को भाग्यवान् समझ लेता है। उनके भरण-पोषण की चिन्ता मे सर्वदा डूबा रहता है। दुर्वासनाओं को अब भी नहीं छोडता। दिन-रात उसी मे रत रहता है।······अन्त मे जब उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और मृत्यु समीप आती है तब जाकर उसकी आँखें खुलती हैं। बुढ़ापा उनके लिए असह्य हो जाता है। वह रोगी पड़ता है। तब जाकर भगवान् की शरण में जाता है। आळवार भक्तों का कथन है कि बुद्धिमान मनुष्य इस नाशवान सासारिक सुख-भोग के प्रति पहले से ही वैराग्य-भाव धारण करता है, क्योंकि वह जानता है कि इनसे बचने पर ही अध्यात्म-प्रकाश मिल सकता है।

द्वादश आळवारो मे कुछ अपने प्रारम्भिक जीवन में सांसारिक विषय-वासना में लीन रहे। परन्तु जब उन्हें मालूम पड़ा कि वे सब पदार्थ नश्वर हैं, तो वे उन सबका त्यागकर वैरागी हो गये। कुलशेखराळवार तो राजकीय सुख-भोग तक की तिलांजलि कर घर-बार छोड़कर वैरागी बन गये। तिरुमगे आळवार जो चोरी, लूट, डकैती जैसे कुकृत्यों से धनोपार्जन करते थे, अचानक भगवद् प्रेरणा पाकर सब कुछ त्यागकर वैरागी हो गये। आळवारो की जीवनियाँ यह स्पष्ट बता रही है कि वे सब सासारिक सुखों के प्रति वैराग्य-भाव रखते थे और वे दूसरो को भी सासारिक मोह-जाल मे पड़ने से अपने को बचाने का आदेश दिया करते थे।

आळवारों के पदों में वैराग्य के अनेक साधना मे निम्नलिखित विषयों का विशेष रूप से निरूपण हुआ है:—

(क) पंचेन्द्रियों पर विजय,
(ख) नारी के मोहक रूप की निन्दा,
(ग) अर्थ-निन्दा, और
(घ) शरीर की नश्वरता का बोध।

(क) पंचेन्द्रियों पर विजय

पंचेन्द्रियाँ मनुष्य को गुमराह करने वाली है। ऐन्द्रिक सुख प्राप्त करने की कामना से ही मनुष्य अन्याय करने को भी तैयार हो जाता है। संसार में होने वाले सभी अनर्थों के कारण पंचेन्द्रियाँ ही हैं। इन इन्द्रियो को सुख पहुँचाने के हेतु नाना पाप कर बैठता है और ईश्वर-चिन्तन से विमुख हो जाता है। आळवारो के अनेक पदों में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का आदेश मिलता है। इन्द्रिय-दमन को अध्यात्म-पथ के पथिक के लिए अनिवार्य शर्त के रूप मे बताया गया है। सभी आळवारों ने एकमत से घोषणा की है कि पचेन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले साधक को भगवान् के दर्शन मिलेंगे।[1] उनका कथन है कि पचेन्द्रियों के द्वार का

१. "अरियपुलनेल्लटक्की आयमलर कोण्डु आर्वम्
पुरिय परिसिनाल पुल्किल
एट्टुर्नेकाण्पदु एळिदु।' —ओन्द्राम ५०

बन्द करने से ज्ञान का द्वार खुल सकता है।[1] पंचेन्द्रियों की तुलना पाँच राक्षसो से की गयी है, जो मनुष्य को कोल्हू के गड्ढे मे डालकर पीसते हैं।[2] मनुष्य को इन्द्रिय-रूपी इन राक्षसो पर विजय प्राप्त करनी है, तभी अध्यात्म-पथ पर बिना किसी रोक-टोक के साधक जा सकता है।

(ख) नारी के मोहक रूप की निन्दा

भारतीय साहित्य मे नारी की गणना परम पुनीत मातृ-शक्ति के रूप मे की गई है। परन्तु नारी का मदिर यौवन रूप मनुष्य को अध्यात्म-पथ से अनायास ही विमुख कर देने वाला है। इस कारण भक्ति-साहित्य मे उसके मोहक रूप की निन्दा की गई है। भक्ति-साहित्य में नारी के मादक रूप की ज्वाला मे साधक को निरन्तर सचेत रहने का आदेश दिया गया है। तिरुमंगैआळवार ने पश्चाताप के रूप मे कहा है :—

"मृगनयनी महिलाओं के रूप-जाल में पड़कर, अपने कर्त्तव्य को भूलकर मैंने नरक-दु:ख भोगने के पाप किए हैं।"[3]

"मधुर मुस्कान वाली रमणियो के सुन्दर स्तनों पर मोहित होकर ......नव-यौवनाओं के सम्भोग-सुख के पीछे पड़ा रहा।......अब मैं लज्जित हूँ।"[4]

"अरिन्दुऐन्दुम उल्लटक्की आयमलर कोण्डु आर्वम्
चेरिन्द मनत्तिनराय चेव्वे-अरिन्दु अवन तन
पेरोदियेत्तुम पेरन्दुवसोर काण्परे
कारोद वण्णन कळल।"

—इरण्टाम तिरुवन्तादि, ७ तथा मून्ड्राम तिरुवन्तादि, १२।

१. "पुन्पुल वळियटैत्तु अरक्किळच्चिने चेद्दु
नन्पुल वळितिरन्दु ज्ञान नर्चुडर कोळिई......"

—तिरच्चन्दविरुत्तम, ७८

२ "तीर मरुन्दिन्ड्री ऐन्दु नोयडुम चेक्कि लिट्टु तिरिक्कुम:ऐवरै
नेर मरुंगुडैत्तावडैत्तु नेक्किल्पानोक्किन्ड्राम...............

—तिरुवाय मोळी, ७:१:५

३. "मानेय कणमडवार मयक्किल पट्टु मानिलत्तु
नाने नानाविध नरकम पुकुम पावम् चेय्देन॥"

—पेरिय तिरुमोळी, १:६:२

४. "वाणिला मुरुवल चिरुनुदल पेरुन्दोळ
मादरार वनमुलैप्पयने
पेणिनेन अदनै पिलैयेनक्करुदि
पेदैयेन पिरवि नोवल्यान

(ग) अर्थ निन्दा

मनुष्य को ईश्वरोन्मुख होने से विमुख करने वाला एक प्रमुख साधन धन है। मनुष्य अर्थ के लोभ मे पडकर कितना अनर्थ कर बैठता है। मनुष्य जब तक यह जान नही पाता कि धन नाशवान् है, अस्थायी है, तब तक वह धन के मोह को नहीं छोड सकता। धन भगवान् के दर्शनो से उसकी आँखों को बन्द करता है। अर्थ के प्रति अनाकर्षण वैराग्य की ओर उन्मुख करेगा। कुलशेखराळवार तथा तिरुमगै आळवार ने अपार धन-राशि को त्यागकर भगवद्-भक्ति प्राप्त की। नम्माळवार का कथन है कि मनुष्य को यह समझना चाहिए कि राजकीय सुख भी अस्थायी है, धन मिट जाने वाला है।[1] नम्माळवार के अनेक पदों मे अर्थ के मोह को छोड़ने का आदेश है।

(घ) शरीर की नश्वरता का बोध

आळवारो का कथन है कि अगर मनुष्य अपनी देह की नश्वरता और संसार की असारता का परिचय प्राप्त करे तो वह अवश्य वैराग्य युक्त जीवन की ओर उन्मुख होगा। तिरुमलिशै आळवार का प्रश्न है :—

"यह जानकर भी कि आज नहीं तो कल इस संसार को छोडना ही पड़ेगा, मूर्ख मनुष्य क्यो इस देह में पडे रहते हैं ?"[2] नम्माळवार के अनेक पदो में संसार की असारता तथा मनुष्य-देह की नश्वरता का बोध कराया गया है और उनमे वैराग्यपूर्ण जीवन बिताने का सन्देश है।[3] तिरुमंगे आळवार ने अपने पदों मे बुढ़ापे की करुण दशा का चित्रण कर आदेश दिया है कि बुढ़ापे का कष्ट भोगने के पहले ही मनुष्य को वैराग्ययुक्त जीवन बिताकर भक्ति-पथ पर आरूढ़ होना चाहिए।

एणिलेन इरुन्देन एण्णिनेन एण्णि
एलैयवर कलविपिन तिरत्तै
नाणिनेन.................."

—पेरिय तिरुमोळी, १:६:१।

१. "अडिचेर मुडियिनराकि अरसरकळ ताम तोळा
इडि चेर मुरसंगळ मुट्रत्तियम्ब इरुन्दवर
पोडिचेर तुकळाय पोवार्कळ............"

—तिरुवायमोळी, ४ : ७ : ३

२. "इन्दु चादल निन्द्र चादल अन्द्री यारुम वैयक्तु
शोन्द्री निन्द्री वाळदलिन्मै कण्डुम नीचर एन्कोलो ?"

—तिरुच्चन्दविरुत्तम, ६६

३. "अंडगोळिल संपत्तु अंडमुकक्कण्डु ईशन
अंडगोलिल महुवेन्द्र अंडमुक उळ्ळे।"

मध्ययुगीन भक्त-कवियों ने भी वैराग्य पर जोर दिया है और उसे अध्यात्म-पथ के पथिक के लिए अनिवार्य साबित किया है। हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने भी वैराग्य धारण करने का आदेश दिया है।

ऊपर जिन तत्वों का हमने संक्षेप मे विवेचन किया है, वे सामान्य रूप से मध्ययुगीन समस्त भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्व हैं। भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट सन्दर्भ मे आळवार भक्तों ने ऊपर विवेचित भक्ति-तत्वों पर विशेष जोर दिया था। आळवारों की विचारधारा से प्रभावित होकर पनपने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय आदि भक्ति-सम्प्रदायों मे ये तत्व न्यूनाधिक रूप मे स्वीकृत हुए है। विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के अन्तर्गत काव्य-रचना करने वाले (१६ वीं शती के) हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियो ने भी उन तत्वों को अपने भक्ति-काव्यों में स्थान दिया है और उन्हे भक्ति-पथ के आवश्यक साधनो के रूप मे स्वीकार किया है।

'प्रबन्धम' के विशिष्ट तत्व

'प्रबन्धम्' जहाँ विशुद्ध भक्ति के विभिन्न तत्वों का विवेचन प्रस्तुत करता है, वहाँ वह काव्य की कसौटी पर भी उत्तम ग्रन्थ साबित होता है। आळवार भक्तों ने 'प्रबन्धम्' में भक्ति-तत्वों के बीच-बीच में अपने आराध्यदेव विष्णु के विभिन्न अवतारों की और उनकी अनन्य लीलाओ का भी गायन किया है। 'प्रबन्धम्' ने भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट सन्दर्भ मे भक्तों की मानसिक पिपासा की पूर्ति के लिए शुष्क भक्ति-तत्वों के अतिरिक्त अवतारी विष्णु की विभिन्न लीलाओं का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया था। भक्तों ने प्रबन्धम् में वर्णित भगवल्लीलाओं में 'ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानन्द' का भी रसास्वादन किया था। प्रबन्धम् में वर्णित विविध भगवल्लीलाओं तथा उनके काव्योचित चित्रण ने परवर्ती भक्त कवियो को बहुत ही प्रभावित किया है।

प्रबन्धम् मे विष्णु के सभी अवतारों का न्यूनाधिक रूप में वर्णन मिल जाता है। आळवारो के अनुसार परब्रह्म विष्णु विभिन्न युगों मे मनुष्यों के उद्धार के निमित्त अवतार लेते हैं। जब पृथ्वी में अधर्म फैल जाता है और अज्ञान अन्धकार पृथ्वी को कवलित करता है, तब कृपासिन्धु भगवान् अपनी करुणा को प्रकट करने के हेतु अवतार लेते हैं। नम्माळवार ने यहाँ तक कह दिया है कि अपने ही अंशभूत अनगिनत जीवों को अपना दर्शन-सुख प्रदान करने के निमित्त भगवान् अवतार लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आळवारो ने विष्णु के विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा। फिर भी विष्णु के दो अवतार —रामावतार और कृष्णावतारों ने उनको विशेष रूप से आकर्षित किया। इन दोनो अवतारो मे भी कृष्णावतार मे उनका मन जितना रमा, उतना रामावतार में नही। श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओ का उन्होंने ऐसा सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है, मानों उन्होंने स्वयं उन लीलाओं का अवलोकन किया हो। उनके कोमल भावुक और कवि-हृदय ने कृष्ण लीलाओं में ही अपनी अभिव्यक्ति की भाव-भूमि देखी अतएव उन्होंने कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का रसपूर्ण

वर्णन प्रस्तुत किया और उनके भाव-पखेरू स्वच्छन्द रूप से काव्य-व्योम मे उड सके, जिससे कि उच्च कोटि के सरस कृष्ण-काव्य का निर्माण उनके द्वारा हो सका।

प्रथम अध्याय में हम बता चुके हैं कि कृष्ण से सम्बन्धित अनेक कथाओ की जन्म-भूमि तमिळ-प्रदेश है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे जबकि गीता द्वारा प्रसारित भागवत-धर्म का दक्षिण की ओर आगमन हुआ, तब कृष्ण-चरित मे तमिळ प्रदेश के वान्य-देवता 'मायोन' से सम्बन्धित अनेक कथाएँ मिल गयी। विष्णु के अवतार रूप में श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा हुई और उनकी विविध लीलाओं का जन-मानस मे प्रचार हुआ। आळवारों को कृष्ण-सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्राचीन पुराणों मे मिली। साथ ही साथ आळवारों ने लोक मे प्रचलित अनेक कथाओ को कृष्ण-चरित में मिला दिया। कल्पना का भी सहारा लेकर उन्होने उन कथाओं में वर्णित नाना लीलाओ का काव्योचित चित्रण अपने भक्ति-काव्य मे प्रस्तुत किया।

प्रबन्ध में कृष्ण-चरित क्रमबद्ध रूप से नहीं दिया गया है। स्मरण रहे कि 'प्रबन्धम्', एक व्यक्ति की रचना नहीं है। चौथी-पाँचवी शताब्दी से लेकर आठवी-नवी शताब्दी तक के दीर्घकाल में विभिन्न समयो में अवतरित भक्तो के पदो का संकलन है। अत· उसमें कृष्ण-चरित को क्रम-बद्ध रूप में प्राप्त करने की आशा नही की जा सकती। यहाँ प्रसगव हम श्रीमद्भागवत पुराण के विषय में कुछ कहना आवश्यक समझते हैं। क्योंकि भागवत पुराण को साधारणतया मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य का आधार ग्रन्थ माना जाता है। भागवत मे कृष्ण-चरित क्रमबद्ध रूप मे वर्णित है। उसमें भक्ति-तत्वो का शास्त्रीय विवेचन हुआ है। यहाँ कुछ प्रश्न उठ सकते है। क्या प्रबन्धम् भागवत से प्रभावित है ? भागवत का रचना-काल क्या है ? क्या भागवत प्रबन्धम् से प्रभावित है ? श्रीमद्भागवत के रचना-काल के विषय में विद्वानों मे पर्याप्त मतभेद है। अधिकाश विद्वान् उसे नवी शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं।[1] अनेक विद्वान् श्रीमद्भागवत का कई दृष्टियो के परीक्षण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वह अवश्य नवी शताब्दी या उसके पश्चात् की रचना है और उसकी रचना दक्षिण भारत मे हुई थी। डा० हरवंशलाल जी शर्मा लिखते हैं :—"यदि श्रीमद्भागवत पुराण को हम नवी शताब्दी की रचना मानें और उसका दक्षिण-देश में लिखा हुआ स्वीकार करें तो उस समय की धार्मिक परिस्थितियों के ठीक मेल मे श्रीमद्भागवत का विषय उतरता है। श्री शकराचार्य जी का अद्वैत-मत प्राचीन भागवत-धर्म का पोषक था। भक्ति-पद्धति मे जिन नवीन तत्वों का समावेश आळवार और अडियार भक्तो के सम्पर्क से बढ़ रहा था, उनसे

---

1. (i) C. V. Vaidya, JBRAS (1925), p. 144 ff.
   (ii) R. G Bhandarkar—"*Vaishnvism, Saivism*··· ", p. 49.
   (iii) Pargiter—"*Ancient Indian Historical Tradtition*", p. 80.
   (iv) Farquhar—*Outline of Religious Literature of India*, p. 229 ff.
   (v) Winternitz 'Indian Literature', Vol I p 556

शंकराचार्य जी ने अपने मत मे कोई स्थान नहीं दिया और न उन्होंने भक्ति को ही सर्वोपरि माना। श्रीमद्भागवत पुराण मे इसके विरोध में ही भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। श्रीमद्भागवत पुराण में इस बात का उल्लेख है कि कलियुग मे नारायण के भक्त कहीं-कहीं होंगे, परन्तु द्राविड़ देश में, जहाँ कि ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी और महानदी नदियाँ बहती हैं, विशेष रूप से होंगे। इन नदियों के जल का पान करने वालो के हृदय शुद्ध होंगे।[1] इससे पता चलता है कि भागवत-पुराण की रचना के समय तमिळ देश मे कृष्ण-भक्ति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था।"[2]

श्रीमद्भागवत एक ही व्यक्ति की रचना मालूम पड़ती है। इस विषय में भी विद्वानो में मतभेद है। उसमें कृष्ण-कथा क्रम-बद्ध रूप से वर्णित है और भक्ति-तत्वों का विवेचन शास्त्रीय स्तर पर हुआ है। भागवतकार ने अपने अपार पाण्डित्य का परिचय दिया है। वह सप्रयत्न सजाया गया ग्रन्थ मालूम पड़ता है। परन्तु प्रबन्धम् के एक व्यक्ति की रचना न होने के कारण उसमे कृष्ण-कथा क्रम-बद्ध रूप मे नहीं मिलती। फिर भी प्रबन्धम् मे भागवत-वर्णित अधिकांश कृष्ण-लीलाएँ मिल जाती है। प्रबन्धम् मे बिखरे पड़े भक्ति-तत्वों और कृष्ण-लीलाओं को सुव्यवस्थित रूप में अथवा क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तो प्रबन्धम् और भागवत के वर्ण्य-विषय में विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ेगा। डा० विजयेन्द्र स्नातक का भी कथन है कि "भागवत पुराण में जिस कोटि की प्रपत्तिपरक भक्ति का विधान हुआ है उसके समान कोटि की भक्ति सातवीं शताब्दी के आळवार भक्तों में प्रचलित थी। भगवान् का गुणानुवाद और लीला वर्णन ठीक वैसा ही था जैसा भागवत पुराण में है।"[3] प्रोफेसर हूपर ने भी आळवारों की भक्ति-साधना को भागवत-पुराण के समकक्ष ठहराया है।[4] भागवत के कुछ अंश को विद्वान् प्रक्षिप्त भी मानते हैं। कुछ भी हो, हमें इतना कहना है कि वर्तमान रूप में श्रीमद्भागवत आळवारों के समय में नहीं था। यहाँ यह कहकर कि भागवत बहुत बाद की रचना है, वैष्णव-जनों के भक्ति-भाव को ठेस पहुँचाना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमे इतना कहना है कि अगर भागवत का वर्तमान रूप उस समय मिला होता तो आळवार उससे अवश्य लाभ उठा सकते थे और अवश्य भागवत का अनुकरण कर क्रम-बद्ध रूप से कृष्ण-चरित प्रस्तुत करते। परन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता। उल्टे भागवत में कृष्ण-कथा को व्यवस्थित रूप मे और भक्ति का शास्त्रीय विवेचन देखकर ऐसा अनुमान करना पड़ता है कि भागवतकार ने अपने ग्रन्थ को भक्ति के लक्षण-ग्रन्थ

---

१. **श्रीमद्भागवत**, ११।५।३८-४०।

२. **सूर और उनका साहित्य** (द्वितीय संस्करण)—डा० हरबंश लाल शर्मा, पृ० १४०।

३. **राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य**—डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १२

4. *Hymns of Alvars*—J S M. Hooper (In n), p 18

के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है और उसने किन्ही अन्य स्रोतों को लक्ष्य ग्रन्थों के रूप में स्वीकार किया है। उन लक्ष्य ग्रन्थों में प्रबन्धम् भी एक हो सकता है। प्रबन्धम् के भक्ति-प्रधान पदो का प्रचार चौथी-पाँचवी शताब्दी से होना, भागवत में प्रबन्धम् में वर्णित सभी विषयो का प्राप्त होना तथा भागवत की रचना का दक्षिण भारत मे होना, हमारे अनुमान को और भी पुष्ट कर देते हैं कि भागवतकार को प्रबन्धम् की परम्परा से थोड़ा परिचय अवश्य था। प्रबन्धम् का आद्योपान्त अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि प्रबन्धम् के रचयिताओं को श्रीमद्‌भागवत से प्रभावित होने की आवश्यकता नही थी। प्रबन्धम् में ऐसी बहुत सी चीजें मिलती हैं जो भागवत में नही है। कृष्ण की कुछ लीलाओं का वर्णन भी प्रबन्धम् मे मिलता है, जो भागवत में नही है। भागवत मे 'राधा' का उल्लेख भी नही है, परन्तु प्रबन्धम् मे "नप्पिन्नै" के नाम से राधा का ही वर्णन है। बाद के साहित्य में राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, वह पहले से ही प्रबन्धम् मे है। तमिळ के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पी० श्री० आचार्य का मत है कि प्रबन्धम् में मिलने वाली पेरियाळवार द्वारा वर्णित कृष्ण की अनेक लीलाएँ भागवत पुराण से भी पूर्व की हैं।[1]

प्रबन्धम् ने भागवत को कितना दिया, या प्रबन्धम् ने भागवत से कितना लिया होगा—इन बातो पर सूक्ष्म रूप से कुछ कहना दुस्तर कार्य है। चूँकि शताब्दियाँ बीत गयी, अतः अब इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। फिर हमारा उद्देश्य यहाँ यह दिखाना भी नही है कि भागवत प्रबन्धम् से कितना प्रभावित है अथवा प्रबन्धम् भागवत से कितना प्रभावित हुआ होगा। यह शोध का कोई दूसरा स्वतन्त्र विषय हो सकता है। हमे यहाँ कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित प्रबन्धम् के उन विशिष्ट तत्वो का सामान्य परिचय देना है, जिन्होने परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया है। ये विशिष्ट तत्व दक्षिण की सगोत्र भाषाओ के कृष्ण-भक्ति-साहित्य मे ही नही, बल्कि दक्षिण मे पनपने वाले विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायो के माध्यम से उत्तरी भारत की भाषाओं के मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य तक में न्यूनाधिक रूप मे स्वीकृत हुए हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रबन्धम् में कृष्ण-लीलाएँ वयः क्रम से उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु प्रयत्न कर ढूँढ़ने पर प्रायः सभी कृष्ण-लीलाओं का वर्णन यत्र-तत्र मिल जाता है। प्रबन्धम् में यत्र-तत्र वर्णित कृष्ण-लालाओं को वयः क्रम के अनुसार देने का प्रयास यहाँ किया गया है। कृष्ण की बाल-लीलाओ का वर्णन पेरियाळवार ने जितनी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। इतने प्राचीन काल में (छठी शताब्दी) पेरियाळवार ने बाल चेष्टाओ का ऐसा सजीव चित्र अंकित किया है जो बाल-मनोवृत्ति का सूक्ष्म परिचय देता है। तमिळ मे पेरियाळवार का

१. श्री पी० श्री० आचार्य के "कृष्णावतार" नामक लेख—"तिरुक्कोयिल", वाल्यूम २ इस्स्यू द।

बाल-वर्णन एक आदर्श छोड़ गया है—परवर्ती कवियों के लिए। कृष्ण की किशोर लीलाओं और गोपी-प्रेम का भी पर्याप्त विस्तार से वर्णन प्रबन्धम् में मिल जाता है। आळवारो ने गोपी-प्रेम तथा विरह के वर्णन मे तमिळ की अनेक काव्य रूढ़ियों का उपयोग किया है, जिनका अनुकरण परवर्ती कवियों ने किया है। मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियो ने विशेष रूप मे बाल-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का ही विस्तार से वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियो के अनन्य और अलौकिक प्रेम का भी वर्णन प्रमुख रूप से मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य मे मिलता है। वैसे तो मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले अनेक विशिष्ट तत्व प्रबन्धम् मे मिल जाते हैं, जिनको सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत करना कठिन है। विस्तार-भय से सूक्ष्मता में नहीं जाकर प्रबन्धम् के उन विशिष्ट तत्वो को स्थूल रूप से ही निम्नलिखित चार शीर्षकों के अन्तर्गत देते हैं :—

१—श्रीकृष्ण की विविध लीलाएँ,
२—श्रीकृष्ण की अलौकिक रूप-माधुरी,
३—श्रीकृष्ण का परमेश्वरत्व,
४—श्रीकृष्ण के प्रति गोपियो की प्रेम-भावना :—
(१) वात्सल्य भाव, और
(२) माधुर्य-भाव।

(१) श्रीकृष्ण की विविध लीलाएँ

("प्रबन्धम्" में कृष्ण-लीलाएँ क्रम-बद्ध रूप में नहीं मिलतीं, किन्तु यहाँ पर्याप्त अध्यवसाय के पश्चात् प्रबन्धम् में इधर-इधर मिलने वाली कृष्ण-लीलाओं को एकत्रित कर क्रम-बद्ध रूप से नीचे दे रहे हैं। जो लीलाएँ 'प्रबन्धम्' मे हैं और भागवत में नहीं हैं या कुछ भिन्नता के साथ हैं, उनका उल्लेख यथास्थान किया गया है।)

कृष्ण-लीला का सूत्रपात—अवतार रहस्य

आळवार भक्तों ने सर्वत्र श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में माना है। आळवारो के अनेक पदों मे विष्णु भगवान् के क्षीर-सागर वैभव का वर्णन मिलता है: "विष्णु शेष नाग पर शयन कर रहे हैं।[१] उनके करों में शंख शोभित हैं।[२] श्री देवी और भूदेवी उनके पास विराजमान हैं।[3] विष्णु योग-निद्रा में लीन है।[४] नारदादि मुनिजन वाद्य बजाते हैं।[५] तुलसी-माला अर्पित कर देवगण उनकी स्तुति करते है।[६]

१. "मन्निय नागत्तणैमेल……"—पेरियतिरुमडल, २
२. "शुडरालि शंखु……"—पेरिय तिरुमोळी, २-१०-६
३. "तिरुमडन्तै मण्डन्तै……"—वही, ३-१०-१
४. "उन्निय योगत्तु……"—पेरिय तिरुमडल, ८
५ "वम्बुस्तुम नारदनुम……"—पेरुमाळ तिरुमोळी १-५
६ मण्स्तुळाय '—पेरिय तिरुमोळी २ १० २

भक्त और सिद्ध पुरुष उन्हें पूजते रहते हैं।[1] यही विष्णु देवों की प्रार्थना पर पृथ्वी में कृष्णावतार लेते हैं। आळवारो ने कृष्णावतार के अनेक कारण बताये हैं :—देवलोक के देवगणों की वेदना को दूर करने के लिए[2], पृथ्वी तथा पृथ्वी मे रहने वाले मनुष्यो के उद्धार के लिए[3], पृथ्वी के बोझ को कम करने के लिए[4], भूदेवी के कष्ट को दूर करने के लिए[5], देवगणो की प्रार्थना पर[6] बन्धु-बान्धवो को सताने वाले कंस का वध करने के लिए,[7] देवकी के किये व्रत का फल देने के लिए[8], (पिता) वसुदेव के पैरों पर पड़ी श्रृङ्खला को तोडने[9], अपने छः बच्चों को खो देने वाली माता के गर्भ को सफल बनाने हेतु,[10] क्षीर-सागर वासी श्री विष्णु का श्रीकृष्ण के रूप मे अवतार हुआ।

श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव

पुरातन नगर उत्तर मथुरा में[11] वसुदेव-पत्नी देवकी के पवित्र गर्भ[12] से हस्त नक्षत्र के दसवें दिन[13] श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। जन्म के समय ऐसा लगा मानों सहस्त्र सूर्य एक साथ उदित हुए हों।[14] देवकी-पुत्र का वध करने के हेतु फैलाये गये कंस के क्रूर जाल से बचकर,[15] उसी दिन घोर अन्धकार में छिपे-छिपे वसुदेव द्वारा नन्द गोप के यहाँ कृष्ण लाये गये। दैवी महिला यशोदा के पुत्र के रूप में,[16] बलराम

---

१. "भक्तरकलुम भगवरकलुम......"—पेरियाळवार तिरुमोळी, ४-९-६
२. "विण्कोळ अमरर वेदनै तीर"—वही, १-२-१६
३. "मण्णुरुम मण्णुलकिल मनुषरुम"—पेरुमाळ तिरुमोळी १-१०
४. "पारेरुम पेरुम भारम तीर"—पेरिय तिरुमोळी, २-१०-८
५. "तुवरिक्कनिवाय निलमंगै तुयर तीर"—वही, ८-८-९
६. "देवरीरक्क .."—'तिरुवायमोळी' ६-४-५
७. "साधुचनत्तै नलियुं कंचनै चातिप्पदकु"—वही, ३-५-५
८. "एन्न नोन्बु नोट्टाल कोलो..."—पेरियाळवार तिरुमोळी, २-२-६
९. "तन्नै कालिल पेरु विलंगु ताळविळ"—पेरिय तिरुमोळी, ७-५-१
१०. "मक्कळ अरुवरै कल्लिडै मोद इळन्द..."—पेरियाळवार तिरुमोळी ५-३-१
११. "तायैक्कुडल विळक्कम चेय्य..."—तिरुप्पचवै, ५
१२. "मल्लै मूदूर वड मथुरैयिल..." तिरुवाय मोळी, ९-१-६
१३. "वसुदेवर तम्मुडैय चित्तम पिरिया देवकी तन वयिट्टिल"
—पेरियाळवार तिरुमोळी १-२-६
१४. "कतिरायिरमिरवि कलन्देरित्तलोतु"—वही, ४-१-१
१५. "कंचन वलै वैत्त कारिरुल सिलैतु"—नाच्चियार तिरुमोळी, ३-९
१६ "देव नडौ यशोदैक्कु पोत्तम तिरुमोळी, १ २ १

के अनुज के रूप मे[१], गोपों के नायक के रूप में—[२] गोकुल दीपक[३] का आविर्भाव हुआ।

कृष्ण का जन्मोत्सव

पेरियाळवार ने कृष्ण के जन्मोत्सव का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।[४] कृष्ण के जन्म पर गोकुल में बड़ा हर्षोल्लास और कोलाहल हो रहा है। गोप-बन्धु शिशु के दर्शन के लिए दौड़ रहे हैं, गिर रहे हैं और फिर उठकर दौड़ रहे हैं। बड़े उत्साह के साथ नन्द बाबा के यहाँ लोग जा रहे हैं मानों कोई अद्भुत वस्तु ढूँढने जा रहे हों। कोई कहता है—"लो वह है, हमारा छोटा राजा।" कोई पूछता है—"कहाँ है, हमारा बाल राजा ?" कोई अपने आनन्द को वाणी में नहीं, बल्कि गाने में व्यक्त करता है, तो कोई नाचकर अपना आनन्द प्रकट करता है।[५] अत्यधिक हर्ष में ग्वाले अपने यहाँ के घी, दही आदि को औरों को बाँट देते है और खाली मटकों पर नाच उठते हैं। इनमें से हर एक अपने को भूल गया है। हर कोई संसार से नाता छोडकर आनन्द में मस्त दीखता है। सारा गोकुल ऐसा दीखता है, मानो वह किसी विशिष्ट प्रेम-जाल फँस गया हो। शुभ वार्ता देने की उत्कंठा से कोई आता है तो कोई नन्द बाबा के घर जाकर पूछता है कि मेरे बाल राजा कहाँ हैं ? शिशु को देखकर कोई कहता है कि हमने ऐसे सर्व-शुभ लक्षण युक्त शिशु को कहीं-नहीं देखा। कोई कहता है कि बालक संसार का शासन करेगा। कोई कहता है कि यह हमारा सौभाग्य है कि ऐसे निराले शिशु और उसकी माँ के दर्शन कर सके। हाँडियों मे सुगन्धित जल भर रखा है। हाथ मलकर देह पर हल्दी लेपकर शिशु प्रेम से नहलाया है।"

नामकरण संस्कार

गोकुलवासियों ने सब मिलकर अपने घरों को तोरण[६] इत्यादि से अलंकृत किया। कृष्ण के जन्म के बारहवें दिन[७] वेद में निपुण पण्डितों[८] से "घनश्याम !

---

१. "बलदेवर कीळ कन्ड्राय"—नाच्चियार तिरुमोळी, ४१-१
२. "आयरकळ नायकनाय"—पेरियाळवार तिरुमोळी, १-५-११
३. "आयर पाडिक्कु अणि विळक्काय"—वही, २-२-५
४. पेरियाळवार तिरुमोळी—प्रथम दशक
५. "ओडुवार विळुवार उकन्दालिप्पार
 नाडुवार नंपिरान एंगुत्तानेन्पार
 पाडुवारकलुम पल्परै कोट्ट निन्द्रु
 आडुवारकलुम आयिट्रु आइप्पाडिये।"—पेरियाळवार तिरुमोळी, १-१-२
६. तिरुनेडुन्ताण्डकम, ३
७ पेरियाळवार तिरुमोळी, १ १ ४
८ तिरुवाव मोळी, ४ ६-८

कृष्ण ! श्रीधर !''[1] आदि नामों से पुकार कर बालक का नामकरण संस्कार कराया गया। लोगो ने 'कृष्ण' नाम से शिशु को प्रेमपूर्वक पुकार कर अमृत का-सा आनन्द पाया।[2]

अन्य लीलाएँ

१. **पूतना-वध**—दुष्ट मन वाले कंस के द्वारा भेजी गयी राक्षसी[3] एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर[4] श्रीकृष्ण के प्रति अपने ही पुत्र का सा प्रेम-भाव दिखाकर[5] विष भरे अपने स्तन से कृष्ण को दूध देने आयी। स्तन्य पान करने का बहाना कर[6] कृष्ण ने भी दुरुद्देश्य से आयी हुई राक्षसी के षड्यन्त्रपूर्ण भाव को समझकर, उसके वास्तविक रूप से परिचित होकर उसके प्राणों को पी लिया।

२ **शकट भंजन अथवा शकटासुर वध**—शकट के रूप मे आने वाले राक्षस का पाद प्रहार द्वारा वध।

—तिरुवायमोळी, २-१-८।

३. घुटनो और हाथों के बल रेंगकर विहार करना।

—पेरियाळवार तिरुमोळी, १-४-१।

४. पैर की उँगली को मुँह मे लेकर चूमना।

—वही, १-२-१।

५. किंकिणी के निनादित होते धूल मे खेलना।

—वही, १-५-६।

६. चाँदी के अंकुर के समान दातों का निकल आना—और बालक का हँसना। —वही, १-७-२।

७. थोड़े बड़े होने पर बिना घुटनो की सहायता के पैरों चलना।

—वही, १-७-४।

८. झूमते हुए आकर माता को चुम्बन देना।

—वही, १-५-२।

९. तेल की हाँडियों को जमीन पर लुढ़काना।

—वही, १-४-११।

---

१. **तिरुवाय मोळी**, २-३-७
२. **कण्णिनुळ चिरुत्तांबु**, २
३. **पेरिय तिरुमोळी**, ३-१०-७
४ **वही**, ३-९-७
५ **वही** १० ४ ७
६ **तिरुवन्तादि**, ८

१०. बछड़ों की पूँछ को पकड़कर घुमाना ।

—पेरियाळवार तिरुमोळी, २-४-८ ।

११. बछड़ों के कानों में चींटियों को डालकर उन्हें डराना ।

—वही, ३-४-२ ।

१२. बिना गोदोहन के समय भी बछड़ों को खोल देना ।

—वही, २-४-७ ।

१२. बिना गोदोहन के समय भी बछड़ों को खोल देना ।

—वही, २-४-७ ।

१३. आँखों को बन्द कर मक्खन खाना और हाँडियों में रखे हुए दूध को भर पेट पीना । —वही, २-४-६ तथा २-७-१ ।

१४. तोतली बोली बोलना । —वही, १-६-४ ।

१५. चन्द खिलौना—माँ से चन्द्र को पकड़ कर देने की प्रार्थना करना ।

—वही, १-४-३ ।

(यह लीला भागवत में नहीं है । डा० जगदीश गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि पेरियाळवार ने ही इसका वर्णन किया है । वे लिखते हैं कि यह प्रसंग अपौराणिक लोक-प्रचलित परम्परा के कारण कृष्ण की बाल-क्रीड़ा के साथ सम्बद्ध हुआ है ।[1])

१६. मृत्तिका भक्षण—पेरियाळवार तिरुमोळी, २-३-८ ।

१७. माता यशोदा को मुख मे ब्रह्माण्ड दर्शन कराना ।

—वही, १-२-१८ और १-१-६ ।

१८. कृष्ण द्वारा माता को हौआ दिखाना ।

—वही २-१-२ ।

(यह लीला भागवत में नहीं है। सम्भव है कि यह तमिळ लोक-कथा के आधार पर ही वर्णित है । छोटा बच्चा मुँह को विकृत रूप में कर विचित्र आवाज पैदाकर माँ को डराने की चेष्टा करता है । इसे तमिळ में 'अप्पूच्चिक्काट्टल' कहा जाता है । अन्य ग्रन्थों में कृष्ण को डराने के लिए हाऊ का वर्णन मिलता ।)

१९. स्तनपान की हठ और माता द्वारा प्रेमपूर्वक स्तनपान करने के लिए बुलाना । —वही, २-२-३ ।

२०. नहाने के लिए बुलाना । —वही, २-४-२ ।

२१. कर्ण-छेदन संस्कार । —वही, २-२-८ ।

२२. दृष्टि-दोष परिहार के लिए कृष्ण के हाथों में कंकण बाँधा जाना (तमिळ में इसको 'काप्पिडुदल' कहा जाता है) ।

—वही, २-८-५ ।

---

१ गुजराती और का

—डा० जगदीशगुप्त, पृ० ११ ।

२३. उल्टी पडी ओखली पर खडे होकर माखन-चोरी ।

—पेरियाळवार तिरुमोळी, १-१०-७ ।

२४. ऊखल बन्धन । —वही, १-२-१० तथा ७-८ ।

२५. ऊखल को खीचते हुए जाना और दो वृक्षो को गिरा देना ।

—वही, ३-३-३ ।

(यह कथा कुछ भिन्नता के साथ अन्यत्र मिलती है । भागवत मे कहा गया है कि यक्षति कुबेर के मदोन्मत्त पुत्र नल कूबर और मणि ग्रीव जो नारद के शाप से यमलार्जुन वृक्ष हो गये थे, कृष्ण ने उनका उद्धार किया । पेरियाळवार उन वृक्षो मे असुरावेश मानते हैं ।)

२६. गोप-बालिकाओ के कंकण को चुरा ले जाना और उनसे फल खरीदना ।

—पेरियाळवार तिरुमोळी २-६-६ ।

२७. दधि-पांडव और बर्तन को मोक्ष देना—**यह भागवत में नहीं है ।**

(जब यशोदा माखन-चोरी के अपराध पर कृष्ण को पकडने दौडी, तो कृष्ण किसी घर के अन्दर घुस गये । उस घर में दधि-पांडव नामक ग्वाला रहता था । कृष्ण ने दधि-पाडव से प्रार्थना की कि माता के प्रहार से उन्हे बचाने के लिए कही वह उन्हें छिपाये । दधि-पांडव ने कृष्ण की प्रार्थना पर उन्हे मिट्टी के एक बड़े बर्तन के अन्दर रख दिया । जब यशोदा ने भी उस घर के अन्दर आकर पूछा कि कृष्ण वहाँ आया कि नही, तब दधिपांडव ने कहा कि कृष्ण वहाँ नही आये । इस पर माता लौट गयी । माता के लौट जाने की सूचना पाकर कृष्ण ने दधिपाडव से अपने को बर्तन से बाहर करने की प्रार्थना की । दधिपांडव ने अब उसके लिए एक शर्त बनायी कि उसको और कृष्ण को फँसाने के लिए सहायक सिद्ध होने वाले बर्तन को मोक्ष देने का वायदा करने पर ही वह कृष्ण को बर्तन से बाहर करेगा । कृष्ण ने ऐसा ही किया ।)

२८ यशोदा से गोपियों की शिकायतें ।

—पेरियाळवार तिरुमोळी, २-१० से १—१० ।

२९. कृष्ण के बलराम और अन्य बालको के साथ बछड़ो को चराने के लिए जाना । —वही, १-२-२०, १-८-५ और ३-१-१ ।

३०. हाँडियो से मक्खन खाना और खाली (मिट्टी के) बर्तनो को जमीन पर पटक देना और उनकी आवाज सुनकर हँसना ।

—वही, २-६-१ ।

३१. गोचारण के लिए प्रथम बार वन जाना और माता का विलाप ।

—वही, ३-२-१ और ३-३-२ ।

३२. वंशी बजाना । —वही, ३-६-१ से १०

३३. विविध शृङ्गार सजाकर वन मे विहार ।

तिरुमोळी, १४१ व १४२

३४. वत्सासुर वध—यमुना के तट पर वत्सचारण के समय एक दैत्य बछड़ो में बछड़े का रूप धारण कर घुस आया। कृष्ण ने उसे पूँछ सहित पिछले पैर पकड़ कर अन्तरिक्ष में घुमाकर एक वृक्ष पर दे मारा।
—पेरियाळवार तिरुमोळी, १-६-४।

३५. बकासुर वध—बक रूप धारण करके आए हुए एक दैत्य ने कृष्ण को निगल लिया। किन्तु कृष्ण ने उसे चोंच चीरकर मार डाला।
—वही, २-५-४।

३६. धेनुकासुर वध। —तिरुच्चन्तविरुत्तम, ८०।

३७. कालिय नाग के सिर पर नाचना। —नाच्चियार तिरुमोळी, १२-७, और पेरियाळवार तिरुमोळी, २-१०-३

३८. कादिय दमन। —पेरियाळवार तिरुमोळी, ३-६-७ और ३-६-६।

३६. प्रलम्बासुर वध।

४०. दावानल पान।
—पेरियतिरुमोळी ११-६-७ और तिरुवायमोळी ५-६-५।

४१. वन भोजन। —नाच्चियार तिरुमोळी १२-६।

४२. सीमालिकन को स्वर्ग देना—यह भागवत में नहीं है।

(सीमालिकन कृष्ण का मित्र था। वह कृष्ण से उनके चक्रायुध को माँगता था। कृष्ण ने कहा कि उसे उसके हाथ में देने पर वह उसके सिर को काट देगा। सीमालिकन ने शक प्रकट किया। इस पर कृष्ण ने चक्र को उसके हाथ मे दिया तो चक्र ने सीमालिकन के सिर को काट दिया और वह स्वर्ग पहुँच गया (कृष्ण के मित्र होने कारण)। —पेरियालवार तिरुमोली, २-७-८।

४३. सात वृषभो को वश में कर कृष्ण का 'नप्पिन्नै' को कन्या शुल्क के रूप में प्राप्त करना—

(तत्कालीन प्रथा के अनुसार सात वृषभों को कृष्ण ने वश मे किया और नप्पिन्नै को प्राप्त किया। भागवत में एक दूसरी कथा है, जिसमें कहा गया है कि अयोध्या के नग्नजित राजा की पुत्री को कृष्ण ने सात वृषभो को वश में कर प्राप्त किया।)

४४. वेणु-वाधुरी—पेरियाळवार तिरुमोळी, ३-६-८।

४५. चीर हरण—नाच्चियार तिरुमोळी ३१ और पेरियतिरुमोळी, १०-७-१

४६. 'कुरन्द' पेड के रूप मे खड़े असुर का वध।
—भागवत मे उस वृक्ष के लिए असुर कल्पना नहीं है।

(गोपियो के वस्त्रो को लेकर कृष्ण जिस पेड पर चढ़े वह एक राक्षस का परिवर्तन-रूप था कृष्ण ने उस पेड को गिरा दिया और राक्षस

का वध किया। भागवत मे उस पेड मे असुरावेश का उल्लेख नही है, जबकि प्रबन्धम् की कथा में है।) —पेरियाळवार तिरुमोळी

गोपियो के साथ कृष्ण के नृत्य (कुरवै कुत्तु) रासलीला।
—तिरुवायमोळी, ३ . ६ : ३

इन्द्र यज्ञ भग। —पेरिय तिरुमोळी २-३-४ वही, ४-२-३

गोवर्धन धारण—पेरियाळवार तिरुमोळी, ३-५-६ तथा
तिरुनेडुन्ताण्डकम १३

केशि वध। —पेरिय तिरुमोळी ३-२-८

मथुरा गमन। —वही, ६-७-५

कुब्जा पर अनुकम्पा। —पेरियाळवार तिरुमोली १-६-४

कुवलयापीड वध। —वही, ४-७-७ और तिरुमालै ४५ तथा
पेरिय तिरुमोळी २-२-८

मल्ल निग्रह। —पेरियाळवार तिरुमोळी, २-२-८ तथा
पेरिय तिरुवन्तादि ४१

कस वध। —तिरुप्पावै २५ तथा पेरिय तिरुमोळी ३-१०-३
और ३-१०-६

गुरु सान्दीपनि को उनके पुत्रो को लौटा देना।
—पेरियालवार तिरुमोळी ८-८-१

(विद्याध्ययन के बाद गुरु-दक्षिणा मे गुरु के पुत्र को जो समुद्र मे प्रभास क्षेत्र मे डूबकर मर गया था, लाने के लिए कृष्ण ने समुद्र-जल मे निवास करने वाले शंख रूपधारी पंजजन नामक दैत्य का पता लगाकर उसको मार डाला। फिर संयमनी पुरी जाकर यमराज से गुरु-पुत्र को प्राप्त किया और गुरु सान्दीपनि को लोटा दिया।)

रुक्मिणी हरण। —पेरियाळवार तिरुमोळी ३-६-३ तथा
तिरुवाय मोळी ७-१०-६

नरकासुर वध। —पेरियाळवार तिरुमोळी ४-३-३

द्वारकापुरी का स्थापन। —वही, ४-६-४

पारिजातापहरण। —वही ३-६-१ और २-१-६

बाणासुर वध। —पेरियाळवार तिरुमोळी, ४-३-४ तथा
तिरुवायमोळी ३-१०-४

पौण्ड्रक वध। —पेरिय तिरुमोळी २-४-७ तथा
तिरुचन्त विरुत्तम १०७

शिशुपाल वध। —तिरुवाय मोळी ७-५-३ और ७-५-१०

कृष्ण द्वारा का वध —मून्द्राम २१

६५. द्रौपदी का कृष्ण की शरण लेना। ---पेरिय तिरुमोळी २-३-६

६६. कृष्ण का दूत-रूप में जाना और दुर्योधन के झूठे, कपट, आसन पर बैठकर अपना विश्व-रूप दर्शन देना। ---वही, ६-१-८

६७. पार्थ सारथी के रूप मे जाना। ---वही, २-३-१

६८. कृष्ण के चरणो पर अर्पित पुष्पो को शिवजी का अपने सिर पर धारण करना। --- तिरुवायमोळी २-८-६

(महाभारत युद्ध के समय अर्जुन को पाशुपत-अस्त्र की आवश्यकता पड़ी। चूँकि वह शिवजी का अस्त्र था, अत. शिवजी की पूजा करने की आवश्यकता आ पड़ी। उसके लिए तैयार होने पर कृष्ण ने अर्जुन से अपने चरणों को दिखाकर वहीं पुष्पो को अर्पित करने को कहा। अर्जुन ने ऐसा ही किया। उस दिन रात को शिवजी के सिर पर उन पुष्पो के दर्शन अर्जुन के किये और शिवजी आकर पाशुपत अस्त्र दे गये।[1])

६९. गीता उपदेश। ---तिरुवाय मोळी ४-८-६ तथा ३-५-७

७०. अर्जुन के घोड़ो को जल पिलाना।

---पेरियाळवार तिरुमोळी ४-२-७।

(जब अर्जुन के रथ के घोड़ों को बहुत प्यास लगी तब उस स्थान पर कृष्ण ने वरुणास्त्र का प्रयोग कर जल उत्पन्न किया और घोड़ो की प्यास बुझायी।[2])

उपर्युल्लिखित प्रबन्धम् की कृष्ण-लीलाओं के अवलोकन से स्पष्ट हुआ होगा कि प्रबन्धम् में भागवत में उपलब्ध अधिकांश कृष्ण-लीलाओ का वर्णन मिल जाता है और कुछ ऐसी लीलाएँ भी प्रबन्धम् में वर्णित हैं जो भागवत में नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आळवारो मे सर्वत्र भागवत निरपेक्ष दृष्टिकोण पाया जाता है। फिर आधुनिकतम विद्वानो की भागवत के काल-निर्णय की उपलब्धि के अनुसार आळवार भक्त भागवत-काल से पूर्व के ठहरते है, अतः आळवारों का भागवत-समाश्रित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रबन्धम् में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को परखने पर एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि आळवारों ने बाल-लीलाओं (गोकुल लीलाओं) का जितने बडे विस्तार और बड़ी मार्मिकता से वर्णन प्रस्तुत किया है, उतना मथुरा-लीला या द्वारका-लीला का नहीं। आळवारों द्वारा वर्णित ये कृष्ण सम्बन्धी बाल-लीलाएँ निश्चय ही भक्तों के हृदय मे भगवत्-प्रेम को उत्पन्न कर देने वाली हैं। इसमे

---

१. **दिव्य प्रबन्धम्-कथामृतम्** (प्रबन्धम् की टीका) ---श्री अण्णंगराचार्य स्वामी, पृ० ३८।

२ **वही** पृ० ३७

आश्चर्य की बात नही, यदि हम वह अनुमान करलें कि परवर्ती भक्त-कवियो ने अर्थात् मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियो, विशेषकर अष्टाछापियो ने आळवारों द्वारा वर्णित उन बाल-लीलाओ से प्रभावित होकर उन्हें अपने भक्ति-काव्यो मे स्थान दिया हो।

भगवल्लीलाओं मे आळवारों की तन्मयता

आळवारो की बाल-लीला-वर्णन की शैली मे एक वैचित्र्य है। वह यह कि आळवारों ने बाल-लीलाओं का वर्णन कथाओ के रूप मे प्रस्तुत न कर, उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—मानो वे हमारे सामने प्रत्यक्ष घटित हो रही हों। कहने का तात्पर्य यह है कि आळवारों ने बाल-कृष्ण से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए पेरियाळवार के बाल-लीला-वर्णन को ले सकते है। जहाँ यशोदा या देवकी के कथन होने चाहिए वहाँ कवि ने स्वय यशोदा या देवकी के स्थान पर अपने को कल्पित कर कहा है। ऐसा लगता है, मानो कवि स्वयं बालक (कृष्ण) की देख-रेख करता हो और बालक की लीलाओ मे भाग लेता हो। इस बात को स्पष्ट करने के लिए पेरियाळवार के कुछ पदो का सार नीचे देते है।

जहाँ कवि बालक कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन प्रस्तुत करना चाहता है वहाँ वह कहता है :—

"दवकी द्वारा देवी महिला—यशोदा को सौंपे गये सुन्दर बालक के अपने पैर की उँगली को मुँह मे लेकर चूसते समय, उसके मुँह को देखने आइये। हे देवियो! आकर देखिए।"[1]

"देव-लोक के देवगणो की वेदना को दूर करने के हेतु पहले वसुदेव-पुत्र-रूप मे अवतरित बालक (कृष्ण) के सुन्दर नयनो को आकर देखिए।"[2]

इस प्रकार अनेक पदों में दूसरो को बुलाकर अपने बालक (कृष्ण) का सौन्दर्य दिखाना चाहता है। यही नही, कृष्ण को पालने में लिटाकर यशोदा के लोरी

---

१. "शीतक्कडल उल्लमुदन्न देवकि
कोंदैक्कुळलाळ असोदैक्कुण्पोत्तन्द
पैदक्कुळवी पिडित्तु च्चुवैत्तु ण्णुम
पादक्कमलंगळ काणीरे पवळवायीर! वन्दु काणीरे।"
—पेरियाळवार तिरुमोळी १-२-१

२. "विण्कोळमरर्कळ वेदनैतीर मुन
मण्कोळ वसुदेवर तम मकनाइ वन्दु
तिण्कोळसुररैत्तेय वळर्किन्द्राम
कण्कळ इरुन्दवा काणीरे कनवळैयीर। वन्दु काणीरे।"
—वही १ २ १६

गाने के अवसर पर कवि स्वयं कृष्ण-लीलाओ का स्मरण कराकर उनकी स्तुति करते हुए उन्हे सुलाने के लिए लोरी गाता है। चन्द्र को बुलाते समय यशोदा के स्थान पर कवि कहता है :—

"मेरा यह लाल, मेरी कमर पर बैठकर तुम्हीं को बुला रहा है, अपने बड़े-बड़े ज्योतिर्मय लोचनों से। यदि तुम उचित करना चाहते हो तो उसको दु:ख मत दो। वह चक्रधारी भगवान् है, यह समझ लो। हे चन्द्र! तुम्हें भी ऐसा पुत्र होता तो मालूम होता कि तुम्हारे इस व्यवहार से कितना दुख होगा। हे पुत्र-हीन अभागे! जल्दी आ जाओ।"[1]

कवि ने अनेक स्थलो मे यह भूलकर कि उसे कृष्ण-लीलाओं का कथा-रूप मे वर्णन करना है, यह अनुभव किया है कि वह भी उन लीलाओं मे भाग ले रहा है। विशेष रूप से कृष्ण को स्तनपान कराने, कृष्ण का शृंगार करने, कृष्ण को खेलते देखने तथा कृष्ण के वन में गोचारण करने जाने के अवसरों में कवि ने स्वय को यशोदा के स्थान पर कल्पित कर अपने उद्‌गार सीधे प्रकट किये हैं। इस कारण अनेक स्थलो में ऐसा सजीव वर्णन मिलता है, जिसमें घटनाएँ प्रत्यक्ष होती सी दीखती हैं। यह शैली की विशेषता की ओर ही नहीं, बल्कि कृष्ण लीलाओं में कवि की तन्मयता की ओर भी संकेत करता है। अनेक परवर्ती कवियों ने भी कृष्ण-लीलाओ में इस प्रकार तन्मयता भाव दिखाया है। पुराणों की कथा-शैली को त्याग कर परवर्ती कवियों ने कृष्ण-लीलाओ मे तन्मय होकर भावपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है।

२. श्रीकृष्ण की अलौकिक रूप-माधुरी

श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओ का गान करने वाले प्राय: सभी भक्त कवि श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हुए हैं। कृष्ण के रूप-वर्णन मे सौन्दर्य की जितनी भी कवि-कल्पनाएँ हो सकती हैं, उन सबका प्रयोग करने की प्रवृत्ति इन कवियो मे पायी जाती है। आळ्वार भक्तो ने कृष्ण में अलौकिक शक्ति के साथ अलौकिक एवं अपरिसीम सौन्दर्य के भी दर्शन किये हैं। अत: आळ्वारो ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओ के साथ ही साथ उनकी मनोहारिणी और प्रतिक्षण नवीन आकर्षण उपस्थित करने वाली छवि का भी पग-पग पर अङ्कन किया है। श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति सभी आळ्वारों में पायी जाती है। कुछ मे तो वह इतनी आवेग-

---

१. "चक्करक्कैयन तडंकण्णाल मलर विळित्तु
ओक्कलै मेलिरुन्दु उन्नैये चुट्टि काट्टुम काण
तक्कतरिदियेल चन्दिरा छलम चेय्यादे
मक्कट पेराद — "" वा कण्णाम।"

विष्णुमोळी १४४

मयी और प्रगाढ़ है कि कृष्ण के किसी चरित, किसी भी लीला का वर्णन बिना उनकी अनिन्द्य छवि के वर्णन के सम्भव ही नहीं हो सका। आळवार रूप-वर्णन करके कभी तो स्वयं ही मुग्ध हो लेते हैं, कभी गोपियो के माध्यम से उन्हे रूपासक्त चित्रित करके सुखानुभूति प्राप्त करते है। आळवारों ने प्रमुखतया कृष्ण के दो रूपो की छवि का वर्णन प्रस्तुत किया है :—

१—कृष्ण का बाल रूप, और

२—कृष्ण का किशोर रूप।

कृष्ण के बाल-रूप का सौन्दर्य

कृष्ण के बाल-रूप के सौन्दर्य पर सर्वाधिक मुग्ध होने वाले आळवार पेरियाळ-वार हैं। इन्होने २० पदो मे बाल-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का नखशिख-वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक पद मे प्रत्येक अंग की शोभा का बड़ा ही सरस वर्णन है :—

"कृष्ण के चरण खिले हुए कमल के समान सुन्दर है।"[१]

"......उन चरणो में शुद्ध कांचन के बीच अकित मोती, रत्न और हीरे के समान अगुलियाँ शोभित है।"[२] सर्वत्र कवि के सम्मुख बाल-कृष्ण का वह मोहन रूप ही आता है जिसके वर्णन मे वह अपने को खो जाता है। "सुन्दर सिन्दूर रग के कोमल मुँह के बीच प्रकाश युक्त चाँदी के अंकुर जैसे दात निकले हैं।[3] कमल दल बीच मधु-पान करने वाले भ्रमरों की भाँति कृष्ण के मुख पर सुन्दर अलकावलो क्रीड़ा कर रही है।"[४] बालक के मुख चन्द्र से चन्द्रमा की तुलना कर कवि कहता है—

१. "..................................

पादक्कमलंगळ काणीरे पवळवायीर। वन्दु काणीरे।"

—पेरियाळवार तिरुमोळी १-२-१

२. "मुत्तु मणियुम वयिरमुम नन्योन्नुम
तत्तीप्पतित्तु तलैपेइदार पोल एंगुम
पत्तु विरलुम मणिवण्णन पादगळ
ओत्तिट्टिरुन्दवा काणीरे ओण्णुदलीर! वन्दु काणीरे।"

—वही, १-२-२

३. "..............................

कोलनरुम पवळच्चेन्दुवर वायिनिडै
कोमळ वेल्ळी मुळैप्पोल चिल पल्ललक।" —वही १-५-६

४. "चेंकमलप्पूविल तेनुण्णुम वण्डे पोल
पंकिकल वन्दु उन पवळवाय मोइप्प।
.................................."

—वही १-८ २

"हे, ज्योतिर्मय रथ पर विराजमान होकर सर्वत्र प्रकाशमान चन्द्र ! तुम चाहे कितनी भी चाँदनी दिखाओ और पूर्ण बनो, फिर भी (मेरे) इस बालक के मुख-सौन्दर्य को तुम प्राप्त नहीं कर सकते।"[1] "बालक के मुँह से टपकने वाली लार का सौन्दर्य कमल-पत्र पर से गिरने वाली द्युतियुक्त ओस की बूँदों के समान है।"[2] बालक की प्रत्येक चेष्टा में कवि को सौन्दर्यानुभूति होती है। शिशु का स्तन-पान करना, चन्द्रमा-बुलाना, ताली बजाकर हँसना, सिर ऊँचा करके हिलाना, छोटे कोमल पैरों पर अस्थिर गति से जाना आदि प्रत्येक क्रिया-कलाप में कवि ने सूक्ष्मता से सौन्दर्य का अनुभव किया है और उस सौन्दर्य को यथाशक्ति शब्दों में व्यक्त किया है।

वेश-भूषा

पेरियाळवार ने बाल-कृष्ण की वेश-भूषा का बड़ा ही मोहक चित्र अंकित किया है। कितने ही प्रकार के आभूषणों की कल्पना कर, उन सबसे कृष्ण को भूषित बताया है। कितने ही प्रकार के पुष्पों के नाम गिनाकर उन सबसे कृष्ण को सज्जित बताया है। कृष्ण अपने सजल जलधर सदृश्य श्याम वर्ण शरीर पर विद्युत की सी कांतिवाला पीताम्बर पहने हुए हैं।[3] लाल कमल जैसे पैरों में पायल, कमल की खिली हुई पंखडियों सदृश्य शोभित उँगलियों में अंगूठियाँ, कमर में स्वर्ण से निर्मित कमरबन्द और निनादित होने वाली किंकिणी, हाथों में कंकण, हाथों की उंगलियों में हीरे, मोती से अंकित स्वर्ण अंगूठियाँ, सुन्दर बाहों में विविध आभूषण, कानों में कुण्डल, माथे पर 'चुट्टि' (एक आभूषण विशेष) आदि विविध आभूषणों से श्रीकृष्ण अलंकृत हैं।[4]

---

१. "चुटवुम ओळिवट्टम चूळन्दु ज्योति परन्दॅंगुम
एत्तनै चेय्दिनुम एन मकन मुखम नेरोव्वाय
...." —पेरियाळवार तिरुमोळी १-४-३

२. "पडर पंकयमलरवाय नेकिळप्पनिपडु चिरुतुलि पोल
इडंकोण्ड चेव्वायूरि यूरि इट्टिट्टु पोळ निन्ड्र
...." —वही, १-७-७

३. "मिन्नुक्कोडियुम ओर वेण्तिकलुम चूळपरिवेडमुमाय
पिन्नल तुलंकुम अरसिलैयुम पीतकचिट्टाडैयडेम
...." —वही, १-७-२

४. "चेंकमलक्कललिल चिट्ट्ळपोल पिरलिल
चेरतिकळलिकलुम किंकिणियुम अरैयिल
तंकिय पोन्मडमुम ताळ नन्माबुळॅयिन
पूवोडु पोन्मणियुम मोदिरमुम कीरियुम
मंगलऐंपडैयुम तोळवलैयुम कुळॅयुम
मकरमुम वाळिक्कमुम चुट्टियुम ओत्तिलक' वही १ ५ १०